पहलू से वस्तु की पूर्णता कायम करते हैं। मापदण्ड की इस बुरी टेव ने कर्त्तव्य पथ से हमको कोसों दूर फेंक दिया है। आगम का कथन है:—

'जो एगं जाणई से सव्वं जाणई,
जे एगं न जाणई से सव्वं पि न जाणई'।

वस्तु अनेक गुणों का समूह है। किसी एक ही गुण को सम्पूर्ण वस्तु मानना भ्रमणा है। वस्तु के किसी एक गुण को प्रधानता दे कर शेष अनंत गुणों का अविरोध कथन करना ही उस गुण की प्रधानता है। वस्तु की प्रधानता तो सकल गुणों में है।

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषीश्वर अद्वितीय प्रतिभाशाली पुरुष थे। अपने शिष्य राय ऋषिजी म० सा० को कर्त्तव्य का बोध देने के लिए आपने शास्त्रों का मंथन किया। नवनीत के सदृश २५ द्वारों की रचना की। एक ही वस्तु को पच्चीस प्रकार से समझा कर गुरु ने गुरुत्व निभाया और शिष्य ने शिष्य का कर्त्तव्य पहचाना—

पूज्य श्री द्वारा रचित, २५ द्वार सूत्र व संकेत रूप संक्षिप्त थे। हस्तलिखित टब्बाकार थे। महापुरुषों के महाशयों को समझ लेना सब के लिए समान नहीं हो सकता। लेकिन सब कोई समझे यह अति आवश्यक विषय है। समझ का दूषित साधन संसार के समस्त वातावरण को दूषित कर रहा है। वस्तु स्थिति की समझ कराने में ये २५ द्वार उपयुक्त हैं। इन द्वारों की सरल भाषा और सरल व्याख्या कर के समस्त द्वारों को जैन तत्त्वज्ञान दिग्दर्शन के साँचे में ढाला है। इस की योजना करने कराने में विघ्नों की भरमार रही है। फिर भी पाठक गण इसको पढ़ कर वस्तु के प्रत्येक पहलू को समझें, वस्तु स्थिति का बोध प्राप्त कर कर्त्तव्य पालन कर सकें तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूंगा।

—कल्याण ऋषि

आभार-दर्शन

ज्ञान आपको जीवन-यात्रा का मंगलमय किनारा लावेगा। आपको विश्रान्ति देगा। संस्था द्वारा प्रकाशित १७ पुष्प आपने अपना कर हमारा उत्साह बढ़ाया है उसी तरह यह १८ वां पुष्प भी आपके हृदय का हार बना तो हमारा उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा।

इस ग्रन्थ को इस रूप में उपस्थित करना सहज कार्य नहीं है। साधु-चर्या को पालना और संघ का सुधार करना। इन महान् कार्य को करते हुए भी पंडित मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज सा० संस्था को प्रगतिशील बनाने में सतत प्रयत्न करते रहते हैं। आप ही के अविरत परिश्रम का यह फल है कि संस्था का १८वां पुष्प 'जैन तत्वज्ञान दिग्दर्शन' आज आपके हाथ में पहुँच सका है।

श्री वर्द्धमान श्रमण संघ के प्रधान मंत्री पंडित-रत्न मुनि श्री आनन्द ऋषिजी महाराज सा० का प्रत्येक पल अनमोल है। अखिल भारत वर्ष के श्रमण संघ का शासनचक्र आपके हाथ में है। आपको अन्य कार्य के लिए अवकाश नहीं था फिर भी संस्था को अपनी समझ कर 'जैन तत्व ज्ञान दिग्दर्शन' का अवलोकन करने में अपना अनमोल समय दिया है। आद्योपान्त ग्रन्थावलोकन कर आपने अपनी ओर से उचित संशोधन-वर्द्धन लिख भेजा है। एतदर्थ संस्था आपका महान् आभार मानती है। भविष्य में भी आपका प्रोत्साहन चाहती है।

श्रीयुत पं० रतनलालजी सिंघवी न्यायतीर्थ, विशारद ने इस ग्रन्थ का लेखनकार्य सम्पादन करके मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म० सा० को पूर्ण सहयोग दिया है। संशोधन-वर्द्धन करके ग्रन्थ को उपयोगी सिद्ध किया है। एतदर्थ संस्था की ओर से आपका आभार मानना है।

द्रव्य–सहायक

श्रीमान् दानवीर सेठ गिरिधारीलालजी सा० लूंकड़

का

संक्षिप्त परिचय

मासि मासि समा ज्योत्स्ना पक्षयोरुभयोरपि ।
तत्रैव शुक्ल पक्षोऽभूत यशः पुण्यैरवाप्यते ॥

प्रत्येक महिने में शीतल चन्द्र की चांदनी सम होती है। किसी भी महीने में न्यूनाधिक नहीं होती। वैसे ही दोनों पक्ष में भी चन्द्रिका का माप समान ही होता है। एक ही महिने के दोनों पक्ष हैं। एक काली कालिमा का घर कहाता हैं। दूसरा शुभ्र-धवल चन्द्रिका-सदन। यश उसी के पलड़े पड़ता है, श्रीपोते जिसके पुण्य होता है।

मानव मेदिनी के प्राङ्गण में भी दो तरह के मानवों का अवतरण होता रहता है। जिनके पुण्य-पुञ्ज प्रफुल्लित होते हैं, वे प्राप्त सुखोपभोग की सामग्री और अपने प्रभुत्व का सदुपयोग कर यश रूपी शरीर से अमर होने की आकांक्षा करते रहते हैं। और दूसरे वे हैं जो अखूट धन सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी आशा-तृष्णा के कीट हैं और इन्द्रियों के दास हैं। दोनों एक ही मानव मेदिनी की कुंख-कंदरा में अवतरे। सम काल और सम ही जीवनोपयोगी सामग्री है। फिर भी पहला शुक्ल पक्ष की तरह यश का स्वामी होता है। प्रिय पाठको! मैं जिस भव्य आत्मा का चित्र चित्रण कर रहा हूँ वे भी यश रूपी चन्द्र की धवल चन्द्रिका से शुक्ल पक्ष की तरह आप शोभित हैं और विश्व की शोभा बढ़ा रहे हैं।

छप्पन का साल और अन्न-धन का अभाव। मनुष्य को यमराज का आह्वान था। श्रीमान् हीरालालजी सा० लूंकड़ दुष्काल का

दोनों श्रद्धालु व धर्मात्मा हैं। हीरालालजी सा० तो परलोक सिधारे। गृहस्थी के जुड़े का एक सिरा गिरिधारीलालजी के कंधे है तो दूसरा बालमुकुन्दजी के कंधे। दोनों भाई कुशल व्यापारी हैं और धर्मप्रेमी भी।

पंडित मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महा० सा० ठाणा ५ व प्र० श्री राज कुंवरजी महा० ठाणा ४ का नन्दूरबार में चातुर्मास था। आप सपरिवार धर्मक्रिया करने के लिए नन्दूरबार में पधार गये थे। किराये का मकान ले लिया था। संत-सेवा के साथ साधर्मी की सेवा भी करते थे। आप यहां रहे वहां तक अपने चौके में स्वधर्मी को भी भोजन कराते रहे हैं। इन्हीं दिनों श्रीमान् बालमुकुन्दजी की धर्मपत्नी ने १५ उपवास, तपस्या की थी। महाराज श्री के ओजस्वी मर्मस्पर्शी व्याख्यानों से भीखी बाई प्रभावित होकर निम्नांकित रकम दान में दी है। गिरिधारीलालजी सा० को श्रीमती प्रवर्तिनी सायरकुंवरजी म० सा० के प्रति अटूट भक्ति है। महासतीजी का आप पर अच्छा प्रभाव है। दान की रकम महासतीजी की प्रबल प्रेरणा का प्रतीक है।

१०००) श्री अमोलक जैन ज्ञानालय

२५१) साधारण फंड खाते

१५००) सम्वत्सरी के पारणे में भोजन व्यवस्था के लिए

५००) धर्मपत्नी भीखी बाई के १५ की तपस्या की ज्ञान-प्रभावना के लिए पुस्तक-प्रकाशन में

१५००) नन्दूरबार श्री संघ को स्थानक के लिए पहले दी है। इन बड़ी रकमों के अलावा और भी गुप्त दान देते रहे हैं। सारा परिवार धर्मात्मा और परम भक्त है। ऐसे दानवीरों से ही समाज की शोभा है। ईश्वर आपको चीरंजीव रखें।

---

११ „ नानचन्दजी भगवानदासजी दुगड़ घोडनदी
१२ „ वस्तीमलजी हस्तीमलजी मुथा रायचूर
१३ „ तेजराजजी उदेराजजी रुनवाल „
१४ „ मुकनचन्दजी कुशलराजजी भंडारी „
१५ „ नेमिचन्दजी शिवराजजी गोलेच्छा वेलूर
१६ „ पुखराजजी संपतराजजी धोका यादगिरी
१७ „ इंदरचन्दजी गेलड़ा मद्रास
१८ „ विरदीचन्दजी लालचन्दजी मरलेचा „
१९ „ जसराजजी बोहरा की धर्मपत्नी श्री केशरबाई सुरापूर
२० श्री चंपालालजी लोढा की पत्नी श्रीमती घीसीबाई सिकंदराबाद
२१ „ चंपालालजी पगारिया मद्रास
२२ „ सज्जनराजजी मुथा की धर्मपत्नी श्री उमरावबाई आलंदूर म.
२३ „ श्री अमोलक जैन स्थानकवासी सहायक समिति पूना

—संरक्षक—

२४ श्री किसनलालजी बच्छावत मुथा की पत्नी गिलखीबाई रायचूर
२५ „ हंसराजजी मरलेचा की धर्मपत्नी मेहताबबाई आलंदूर म०
२६ „ जयवंतराजजी भंवरलालजी चोरडिया मद्रास
२७ „ निहालचंदजी मगराजजी सांकला वेलूर
२८ „ लाला रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी पार्वतीबाई हैदराबाद
२९ „ पुखराजजी लुंकड की धर्मपत्नी गजराबाई बैंगलोर
३० „ किसनलालजी फूलचन्दजी लुणिया „
३१ „ मिश्रीलालजी कात्रेला की धर्मपत्नी मिश्रीबाई „
३२ „ उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई हैदराबाद
३३ „ गाढमलजी प्रेमराजजी बांठिया सिकंदराबाद
३४ „ मुलतानमलजी चंदनमलजी सांकला „
३५ „ नेमालाल रामजी की पत्नी स्व. जवनबाई „

६३ ,, नवलमलजी शंभुमलजी चोरड़िया — मद्रास
६४ ,, मिश्रीलालजी पारसमलजी कात्रेला — बेंगलोर
६५ ,, केशरमलजी घीसुलालजी कटारिया — ,,
६६ ,, मुलतानमलजी चन्दनमलजी गरिया — ,,
६७ ,, चुनीलालजी की धर्मपत्नी भुमाबाई — ,,
६८ ,, अचलदासजी हंसराजजी कन्हाड — सिंधनूर
६८ ,, एन. शांतिलाल बलदोटा — पूना
७० ,, धोंड़ीरामजी की धर्मपत्नी रंगुबाई — निफाड

विषय-सूची

॥ ॐ अरिहंत-सिद्धेभ्यो नमः ॥

जैन-तत्त्वज्ञान-दिग्दर्शन

श्री अनुयोग द्वार शास्त्र में प्रमाण, नय-निक्षेप, द्रव्य, ध्यान आदि अनेक विध तात्त्विक ज्ञान २५ द्वारों में समुपलब्ध है, उसी के अनुसार लिपि-बद्ध करते हुए प्रारम्भ में मूल रूप से नाम-निर्देश किया जाता है:—

(१) नय सात, (२) निक्षेपा चार, (३) द्रव्य, गुण, पर्याय, (४) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव; (५) द्रव्य और भाव (६) कारण और कार्य (७) निश्चय और व्यवहार (८) उपादान कारण और निमित्त कारण (९) प्रमाण चार (१०) गुण और गुणी (११) सामान्य और विशेष (१२) ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञानी (१३) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (१४) आधार-आधेय (१५) आविर्भाव तिरोभाव (१६) मुख्यता और गौणता (१७) उत्सर्ग और अपवाद (१८) आत्मा तीन (१९) ध्यान चार (२०) अनुयोग चार (२१) जागरणा तीन (२२) सप्त भंगी के भंग सात (२३) हानि-वृद्धि के छः प्रकार (२४) द्रव्य के छः भेद और (२५) मार्गणा के चौदह भेद।

नयवाद :: प्रथम-द्वार

अब इनका प्राथमिक विवेचन क्रमशः किया जाता है:—

(१) वस्तु के एक अंश को जानने वाला ज्ञान 'नय' कहा जाता है। नय के सात भेद इस प्रकार हैं:—

(१) नैगम नय (२) संग्रह नय (३) व्यवहार नय (४) ऋजु-सूत्र नय (५) शब्द नय (६) समभिरूढ़ नय और (७) एवंभूत नय।

जो नय एक गम याने एक विकल्प रूप ही नहीं हो, किन्तु जो अनेक विकल्पों द्वारा, अनेक मान, अनुमान और प्रमाण द्वारा वस्तु-स्वरूप को समझाता हो, पदार्थ को सामान्य-विशेष तथा उभयात्मक मानता हो, तीनों काल की बात मंजूर करता हो, चारों निक्षेपों को स्वीकार करता हो, किसी भी वस्तु में अंश-मात्र गुण होने पर भी उसे पूर्ण वस्तु मानता हो, ऐसा ज्ञान *नैगमनय* कहलाता है।

(२) जो वस्तु की सत्ता को ग्रहण करता हो, केवल एक संज्ञा का निर्देश करने मात्र से ही गुण और पर्याय सहित द्रव्य को जो ग्रहण कर लेता हो, थोड़े कथन में ही जो अधिक समझता हो, वह *संग्रह-नय* है। यह सामान्य को मानता है, विशेष को

नहीं, जब सामान्य से ही पूर्ण अर्थबोध हो जाता है, तो फिर विशेष की क्या आवश्यकता है ? तीनों काल की बात मानता है, और चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है। जैसे कि— किसी स्वामी ने अपने नौकर को कहा कि— 'दाँतून' लाओ, इसपर वह नौकर स्थिति समझकर दाँतून, झारी, काँच, कंघा, मसी, सिलाई, सुरमा इत्यादि तात्कालिक वस्तुएं लाकर देता है। इसी प्रकार 'पान' लाओ, कहने पर वह नौकर पान, सुपारी, कत्था, चूना, मसाला आदि लाकर सेवा में उपस्थित कर देता है। इस प्रकार संग्रहनय वाला एक शब्द में अनेक वस्तु को ग्रहण करता है।

(३) जो नय 'वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से जैसा दिखलाई पड़े, उसी के अनुसार तथा उन्हीं गुणों से युक्त उस वस्तु को माने' वह *व्यवहार नय* है।

इस नय को केवल आचार और क्रिया की ही आवश्यकता है, अन्तःकरण के परिणामों की ओर यह उपेक्षित रहता है। यह नय सामान्य पर्याय की ओर उदासीन रहता है और विशेष पर्याय के प्रति ही अपना दृष्टिकोण व्यक्त करता है। इसकी परिधि तीनों काल और चारों निक्षेप सहित है।

जैसे कोयल काली है, तोता हरा है, हंस श्वेत है। इस प्रकार विभिन्न पक्षियों में विभिन्न रंग होने पर भी यह नय विभिन्नता के प्रति उपेक्षा रखता हुआ केवल 'रंग के अस्तित्व' का ही समर्थन करता है, न कि रंग संबंधी विभिन्नता का उल्लेख।

(४) जो नय पदार्थ की केवल वर्तमानकालीन पर्याय का ही विचार-विमर्श करता है, जिसका दृष्टिकोण सरल होता है, जो सामान्य पर्याय के प्रति उदासीन और विशेष पर्याय का ही समर्थन करता है, तीनों काल में से जो भूत और भविष्य के प्रति तटस्थ रहता है, एवं केवल एक भाव निक्षेप को ही समझता है। यह *ऋजुसूत्र नय* कहलाता है। कोई कहे कि सौ वर्ष पूर्व स्वर्ण-मुद्रा की वृष्टि हुई थी, अथवा सौ वर्ष पश्चात् स्वर्ण-मुद्रा की वृष्टि होगी, ये दोनों बातें इस नय के लिये निरर्थक हैं। इस पर एक दृष्टान्त है कि:— कोई साहूकार अपने मकान की पौषध-शाला में सामायिक करके बैठा था, उस समय किसी दूसरे पुरुष ने आकर उसके बेटे की बहू को पूछा कि—'तुम्हारे श्वसुर कहाँ गये हैं ?' उसने उत्तर दिया कि 'वे तो बाजार में सूंठ मीर्ची आदि खरीदने लिये गये हैं' तो उस पुरुष ने पंसारी बाजार में जाकर सेठजी को ढूंढा, परन्तु वे नहीं मिले। इसपर पुनः उनके घर पर आकर बोला कि 'वे तो बाजार में नहीं मिले, सही बतलाओ कि कहाँ गये हैं ?' बहू ने पुनः उत्तर दिया कि 'वे तो चमार के यहाँ जूते खरीदने गये हैं।' बेचारा आदमी चमार के यहाँ गया, परन्तु वे वहाँ पर भी नहीं मिले। लौटकर सेठजी के घर आया, तो इतने में सेठजी सामायिक का समय पूर्ण होने पर सामायिक परिपूर्ण और आवश्यक बातचित करके उसको रवाना किया। घर में आकर बहू से बोले कि 'तूं दो बार झूठ क्यों बोली ?' तब उसने उत्तर दिया कि 'आपका मन उस समय क्रमशः पंसारी के यहाँ और मोची के यहाँ गया हुआ था, इसलिये मैंने उस पुरुष से ऐसा कहा।' इस प्रकार ऋजुसूत्र नय वाला वर्तमान काल को मुख्य रखकर वस्तु-स्वरूप का बयान करता है।

(५) *शब्द नय* वाला पदार्थ को सामान्य रूप नहीं मानता है, किन्तु विशेष रूप ही समझता है। वर्त्तमान काल की बात स्वीकार करता है। केवल भाव-निक्षेप के साथ पर्याय वाची शब्दों को एक ही अर्थ वाला मानता है। परन्तु काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ भेद का प्रतिपादन करता है। जैसे शक्र, पुरन्दर शचीपति, देवेन्द्र सबको एक-रूप ही मानता है।

(६) *समभिरूढ़ नय* वाला पदार्थ को सामान्य नहीं मानता है, किन्तु विशेष ही स्वीकार करता है। वर्त्तमान काल की बात समझता है। और भावनिक्षेप को स्वीकार करता है। पर्यायवाची शब्दों को भी भिन्न २ पदार्थ का द्योतक बतलाता है। जैसे शकेन्द्र— जब शक्रासन पर बैठा हुआ अपनी शक्ति द्वारा देवताओं को आज्ञानुसार चलाता है, तभी वह शकेन्द्र है। पुरन्दर— जब वज्र हाथ में लेकर वैरी देवताओं के पुर को विदारे याने नाश करे, उसी समय में वह पुरन्दर है। शचीपति— जब इन्द्राणियों की सभा में बैठा हुआ रंग-राग, ३२ प्रकार के नाटक-खेल आदि देखे और इन्द्रिय-जनित सुखों का अनुभव करे, उसी समय में वह शचीपति है। देवेन्द्र— जब देवताओं की सभा में बैठा हुआ न्याय करें तभी वह देवेन्द्र है। इस प्रकार यह नय व्युत्पत्ति के अनुसार एकार्थ वाचक शब्दों में भी भिन्न-भिन्न अर्थ को प्रकट करता है। यह कुछ न्यूनांश वस्तु को भी संपूर्ण वस्तु मानता है। जैसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले के केवली भगवान् को भी यह नय सिद्ध भगवान् के रूप में ही स्वीकार करता है।

(७) जिस समय कोई भी पदार्थ अपने नाम अनुसार क्रिया और गुणों से संयुक्त हो तथा वह पदार्थ गुणों के अनुसार ही जब अर्थ-क्रिया में संलग्न हो, इसके सिवाय उस पदार्थ संबंधी गुण, पर्याय, धर्म आदि सभी प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ते हों तभी उस पदार्थ को उसी रूप से कहना, ऐसा *एवंभूत नय* का मन्तव्य है। यदि एक अंशमात्र भी गुण कम हुआ तो वह उस पदार्थ को उस रूप में मानने से अपनी अस्वीकृति प्रकट कर देता है। यह सामान्य धर्म नहीं मानता है, किन्तु विशेष धर्म को ही मानता है। काल की दृष्टि से वर्तमानकालीन पर्याय को ही अपना विषय बनाता है। निक्षेप की दृष्टि से केवल भाव निक्षेप ही स्वीकार करता है। इस नय के मत से वस्तु तभी पूर्ण होती है, जब वह अपने संपूर्ण गुणों से युक्त हो और यथावत् क्रिया से संयुक्त हो। घड़े को घड़ा तभी मानना, जब कि वह जल सहित तदनुरूप कार्य करता हो। जल-धारण क्रिया के अभाव में घड़े को घड़ा नहीं कहना। अथवा जैसे शक्रेन्द्र अपने सिंहासन पर बैठे हुए न्याय-क्रिया से रहित हों और मन देवियों की ओर गया हुआ हो तो उस समय इस नय के अनुसार उन्हें शक्रेन्द्र न कह कर शचीपति कहना होगा। सारांश यही है कि पदार्थ नामानुसार व्युत्पत्ति करते हुए वैसी ही अर्थक्रिया से संयुक्त और शक्तिशाली हो, तभी उस पदार्थ को उस रूप मानना, अन्यथा उसे दूसरा समझना। यही *एवंभूत नय* का तात्पर्य और लक्षण है।

अब सातों नय पर एक समुच्चय दृष्टांत दिया जाता है:—

नैगम नय वाले से किसी ने पूछा कि तुम कहाँ रहते हो?

उत्तर— मैं लोक में रहता हूँ।

प्रश्न—लोक तो तीन हैं, अतः तुम कौनसे लोक में रहते हो ?

उत्तर— मैं तिरछे लोक में रहता हूँ।

प्रश्न— तिरछे लोक में तो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, तुम कहाँ रहते हो ?

उत्तर— मैं जंबूद्वीप में रहता हूँ।

प्रश्न— जंबूद्वीप में ६ क्षेत्र हैं, तुम्हारा क्षेत्र कौनसा है ?

उत्तर— भरत क्षेत्र ही मेरा निवास स्थान है।

प्रश्न — भरत क्षेत्र में तो ३२ हजार देश हैं, अतः तुम्हारा देश कौनसा है ?

उत्तर— मगध देश ही मेरी मातृ-भूमि है।

प्रश्न—मगध देश में तो अनेक ग्राम हैं, इन में से तुम्हारा कौनसा ग्राम है ?

उत्तर— राजगृह नगर ही मेरा जन्म स्थान है।

प्रश्न— राजगृह नगर में तो अनेक मोहल्ले हैं, इसलिये तुम्हारा मोहल्ला कौनसा है ?

उत्तर— नालंदा नामक मोहल्ले में मेरा घर है।

प्रश्न— नालंदा नामक मोहल्ले में तो बहुत घर हैं। तुम कहाँ रहते हो ?

उत्तर— मैं मध्य के घर में रहता हूँ।

यह सभी प्रश्नोत्तर नैगम नय के अनुसार ही समझना। पुनः संग्रह नय वाला बोला कि मध्य के घर में तो अनेक कमरे हैं, अतः ऐसा कहो कि मैं मेरे बिछौने जितने स्थान पर ही रहता

हूँ। इसपर व्यवहार नयवाले का कथन है कि क्या संपूर्ण बिछौने पर रहते हो ? ऐसा तो नहीं है, इसलिये ऐसा बोलो कि— 'मेरा शरीर जितने आकाश-प्रदेश व्यापी है. उतने ही क्षेत्र में रहता हूँ।'

इस संबंध में ऋजु-सूत्र नय वादी की मान्यता है कि—'शरीर में तो हड्डी, मांस, चर्म, केश, असंख्यात सूक्ष्म जीव, बादर वायु-काय, कृमि, आदि बेइन्द्रिय जीव बहुत हैं, इसलिये ऐसा कहना चाहिये कि मेरी आत्मा में जितने प्रदेश हैं, उन्हीं में मैं रहता हूँ।'

इस पर शब्द नयवादी का पक्ष है कि— 'आत्मा के प्रदेशों के साथ तो धर्मास्तिकाय आदि के असंख्यात प्रदेश हैं, अतः ठीक उत्तर यही है कि— मैं मेरे स्वभावों में रहता हूँ।'

किन्तु समभिरूढ़ नय वाला इसी बात को इस रूप में कहना चाहेगा कि— 'योग, उपयोग, लेश्या आदि जो स्वभाव रूप परिणाम हैं, वे तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं, अतः ऐसा कहो कि— 'मैं मेरी आत्मा के गुणों में निवास करता हूँ।'

इसी दृष्टिकोण को एवंभूत नयवादी इस प्रकार व्यक्त करेगा कि— 'आत्मा के मूल गुण दो हैं, ज्ञान और दर्शन। भगवान् का आदेश है कि एक समय में दो गुणों में व्याप्ति नहीं हो सकती है, अतः जिस समय में आत्मा के जिस गुण का उप-योग प्रवृत्तिशील हो, उस समय में मैं उसी गुण में निवास करता हूँ।' इस प्रकार क्रम से सातों नयों का दृष्टिकोण समझ लेना चाहिये।

सातों नयों पर पुनः संक्षेप रूप से पायली का दृष्टांत दिया जाता है:—

जैसे एक बढ़ई को एक पायली बनानी थी, इस हेतु लकड़ी लेने के लिये जब वह वन की ओर चला तो, मार्ग में किसी पथिक ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? उसका दृष्टिकोण नैगम नयवादी था, अतः उत्तर दिया कि 'पायली लेने के लिये जा रहा हूँ' इसी प्रकार लकड़ी को लेकर घर आते समय, लकड़ी को काटकर उपयोगी बनाते समय, लकड़ी को पायली के रूप में बनाते समय भी, जब २ किसी ने पूछा कि यह क्या है ? तब प्रत्येक बार और प्रत्येक व्यक्ति को यही उत्तर देता रहा कि यह 'पायली है।' यह सारा दृष्टिकोण नैगम नयानुसार ही है।

संग्रह नयवाला इस विषय में अपने भाव इस प्रकार व्यक्त करेगा कि—'लकड़ी ही पायली नहीं है, किन्तु बनकर तैयार होने पर ही पायली कही जायगी।'

व्यवहार नय वादी अपने पक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत करेगा कि— अनाज का संग्रह किया जायगा, तभी यथार्थ में पायली शब्द द्वारा वाच्यार्थ की सिद्धि हो सकेगी। ऋजुसूत्र नयवादी अपने मन्तव्य को इस प्रकार उपस्थित करेगा कि—'अनाज का संग्रह करने मात्र से ही पायली नहीं कही जा सकेगी, परन्तु धान्य का माप करने से पायली कही जायगी।'

शब्द नय का पक्ष लेने वाला इसी बात को यों कहेगा कि—'माप करने से पायली नहीं कही जायगी, परन्तु माप करते समय—एक, दो, तीन, आदि रूप से गणना करने पर पायली का कथन युक्ति-युक्त होगा।'

समभिरूढ़ नय को मानने वाला इस संबंध में अपने भाव इस प्रकार प्रकट करेगा कि—'कार्य का आधार लेकर और कार्य के अनुसार पायली द्वारा यथाविधि कार्य करते हुए गणना करोगे तभी वास्तविक अर्थ में पायली वाच्य की वाचिका सिद्ध होगी'

एवंभूत नय पर आधार रखने वाला इसी तात्पर्यावबोधक विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करेगा कि— 'संपूर्ण अर्थों में पायली का सदुपयोग करते समय भी उपयोगपूर्वक अर्थक्रिया होती रहेगी, तभी पायली वास्तव में पायली होगी, अन्यथा सामान्य लकड़ी मात्र ही रहेगी।'

इस प्रकार इन सातों नयों को दृष्टि में रखते हुए सापेक्ष-वचनों द्वारा अपने मन्तव्य को और श्रद्धा को प्रकट करने वाला ही सच्चा जैन है और केवल एक पक्ष को ही सर्वस्व समझने वाला और उसे ही खींचनेवाला अन्यमति अथवा मिथ्यात्वी कहा जायगा। स्पष्ट रूप से प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य उन सभी कारणों के समुपस्थित होने पर ही सिद्ध हुआ देखा जाता है। कारणों की अपूर्णता होने पर कार्य की भी अपूर्णता हुआ करती है। इस संबंध में एक उदाहरण दिया जाता है कि:— किसी ने प्रश्न किया कि धान्य किस कारण से उत्पन्न हुआ करती है? इस पर एक ने उत्तर दिया कि – 'पानी से।' दूसरे ने कहा कि— 'पृथ्वी से।' तीसरा बोला कि— 'हल से।' चौथे ने समझाया कि— 'बादल से।' पाँचवें ने अपने भाव यों प्रकट किये कि— 'बीज से।' छट्ठे का कथन था कि 'ऋतु से।' और सातवें ने जाहिर किया कि— 'भाग्य से।' अब विचार किया जाय कि, इन सातों में

से कौनसा सच्चा है ? और कौनसा झूठा है ? यदि सातों ही अपने-अपने पक्षपर अड़ जाँय और एक दूसरे से विवाद करने लग जाँय तो, परिणाम स्वरूप सातों ही झूठे और मिथ्या सिद्ध होंगे। इसके विपरीत यदि सातों ही अपेक्षा पूर्वक अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करें तो सभी सत्यवान् प्रमाणित होंगे। इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह सिद्धान्त प्रकट हुआ कि:— 'वस्तु-विवेचन की शैली सातों नयों की अपेक्षा रखते हुए वर्णन करने पर ही सत्ययुक्त और प्रामाणिक हुआ करती है अन्यथा नहीं।'

इन सातों नयों में से—१ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार ये तीन नय तो व्यवहार के अनुसार कथन-शैली रखने वाले हैं, अतः ये व्यवहारवादी कहे जाते हैं। चौथा ऋजूसूत्र नय व्यवहार और निश्चय दोनों का पक्षपाती है। जबकि शेष तीन नय, शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत निश्चय-पक्षवादी हैं, ये व्यवहार पर आश्रय नहीं रखते हैं। वस्तु के मुख्य-धर्म को आश्रय करके विवेचन करने वाली ज्ञान-प्रणालि 'व्यवहार नय' है और वस्तु के निज-गुण-धर्म को आश्रय करके विवेचन करने वाली ज्ञान-प्रणालि 'निश्चय नय' है।

निक्षेपवाद :: द्वितीयद्वार

प्रतिपाद्य वस्तु का स्वरूप समझाने के लिये नाम, स्थापना आदि भेदों द्वारा वस्तु का विवेचन करना निक्षेप है। मूल रूप से निक्षेप के चार भेद हैं:— १ नाम-निक्षेप, २ स्थापना-निक्षेप, ३ द्रव्य-निक्षेप, ४ और भाव-निक्षेप।

नाम-निक्षेप के तीन भेद हैं:— १ यथार्थ नाम, २ अयथार्थ नाम, और ३ अर्थ शून्य नाम।

जैसा नाम हो, वैसा ही गुण भी हो तो वह यथार्थ-नाम निक्षेप है। जैसे किसी का नाम 'महावीर' है और वह यदि बड़ा भारी वीर हो, तो यह यथार्थ नाम निक्षेप कहा जायगा। यथा नाम तथा गुण न हों तो वह अयथार्थ नाम निक्षेप है। जैसे—हाथी-सिंह, न तो हाथी के गुण हैं और न सिंह के ही। अतः यह अयथार्थ नाम निक्षेप है।

जिन शब्दों का कोई अर्थ नहीं निकलता हो और जो अर्थ-शून्य नाम हो, वह अर्थ-शून्य नाम निक्षेप है। जैसे—चगड़-सिंह, खलड़सिंह आदि। ये नाम अर्थ-शून्य हैं।

प्रतिपाद्य वस्तु के सदृश आकारवाली वस्तु में प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप कहलाता है। जैसे—जंबूद्वीप के चित्र को जम्बूद्वीप कहना; शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि कहना।

स्थापना निक्षेप के ४० भेद हैं, (१) काष्ठ की, (२) चित्र की, (३) मोतियों की, (४) मिट्टी आदि लेप की, (५) गांठों की, (६) क़सीदे की, (७) कोरणी की, (८) वस्तु की, (९) किसी वस्तु के पड़ने से अकस्मात् आकार बन जावे उसकी और (१०) वस्त्र की।

(१) इन दशों का एक आकार बनावे। यों २० भेद हुए। इन बीसों की (१) सद्भाव स्थापना करना और (२) असद्भाव स्थापना करना, इस प्रकार ४० भेद होते हैं।

जिस ढंग के मनुष्य-प्राणी अथवा वस्तु हों, उसका जैसा का तैसा हुबहू लक्षण व्यंजन युक्त स्वरूप उसकी ऊँचाई चौड़ाई भी तदनुरूप ही, तथा परिपूर्ण रीत्या उसके समान ही रूप-लक्षण शील आकृति बना देना, जिसे देखने पर उसका ही भान हो जाय, यथातथ्य वैसा ही स्वरूप, आकृति आदि प्रतिभापित हो जाँय, वह सद्भाव स्थापना निक्षेप है।

इसके विपरीत मन-कल्पित आकृति बनाकर उसे तदनु-रूप कहना, असद् भाव स्थापना है। जैसे कि गोल पत्थर पर सिंदूर तेल आदि लगाकर उन्हें भेरूँजी कहना, असद्-भाव स्थापना निक्षेप है।

जो पदार्थ आगामी परिणाम की योग्यता रखनेवाला हो, उसे उस अवस्था से संबोधित करना, जैसे राजा के पुत्र को राजा कहना, यह द्रव्य निक्षेप है। अतीत अनागत पर्याय के कारण को भी द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। इसके दो भेद हैं:— (१) आगम द्रव्य निक्षेप और (२) नो आगम द्रव्य निक्षेप।

शास्त्र आदि का पठन पाठन तो करे, परन्तु न तो उसका अर्थ समझे और न उपयोगपूर्वक पढ़े अथवा बोले, शून्य चित्त द्वारा तोता रटन मात्र करले, वह आगम द्रव्य निक्षेप है।

नो आगम द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं।

(१) जानक शरीर द्रव्य निक्षेप, (२) भव्य शरीर द्रव्य निक्षेप, और (३) जानक शरीर-भव्य शरीर तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप।

(१) जैसे कोई श्रावक आवश्यक सूत्र का ज्ञाता था, और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया, परन्तु उसका शरीर पड़ा हुआ है, उसे देखकर यह कहना कि— यह आवश्यक का ज्ञाता था। अथवा खाली घड़े को देखकर यह कहना कि यह घी का घड़ा था। इत्यादि कथन-शैली जानक शरीर द्रव्य-निक्षेप है।

(२) जैसे किसी श्रावक के घर पर लड़के का जन्म हुआ, उस समय उसको देखकर कोई कहे कि यह आवश्यक का ज्ञाता होगा, अथवा जैसे नये घड़े को देखकर कोई कहे कि यह घी का होगा। यह कथन भव्य शरीर नो-आगम द्रव्य निक्षेप के अनुसार है।

(३) जानक शरीर-भव्य शरीर-तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-निक्षेप के ३ भेद हैं। (१) लौकिक, (२) लोकोत्तर, और (३) कुप्रावचनिक।

(१) राजा, सेठ, सेनापति आदि द्वारा सभा में बैठकर अवश्य करने योग्य कामों का किया जाना। यह लौकिक, तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-निक्षेप है।

(२) खाते हुए फिरने वाले, रास्ते में पड़े हुए चीथड़ों को पहिनने वाले, चर्म को पहिनने वाले, भिक्षा मांगकर खाने वाले,

शरीर पर भस्म लगाने वाले, बैल को रमाकर आजीविका करने-वाले, गाय की वृत्ति से चलने वाले, गृहस्थ धर्म को ही कल्याण-कारी मानने वाले, यज्ञादि धर्म की चिन्ता करने वाले, विनय-वादी, नास्तिकवादी, तापस, ब्राह्मण-प्रमुख, पाखंडमार्ग में चलने वाले इत्यादि मिथ्यात्वियों द्वारा नित्य नियमानुसार ओ३म् कार आदि का ध्यान किया जाना तथा पत्थर के देव-देवियों के स्थान पर गोबर आदि से लीपना, संमार्जन करना, सुगंधित जल छिड़कना, धूप देना, पुष्प चढ़ाना, गन्ध देना, सुगंधित माला आदि का पहिनाना, यह सब कु-प्रावचनिक द्रव्य निक्षेप है।

(३) जो नाम से तो साधु कहे जाते हैं, परन्तु साधु के गुण से रहित हैं, षट्काय जीवों की दया से रहित हैं, घोड़े जैसे उन्मत्त हैं, हाथी जैसे निरंकुश हैं, शरीर की शृंगार द्वारा शोभा बढ़ाने वाले हैं, जो मठों में रहने वाले हैं, तप-रहित हैं, भगवान् की आज्ञा के बाहिर चलने वाले हैं, और जो दोनों समय आव-श्यक करने वाले हैं, वे सब लोकोत्तर द्रव्य-निक्षेप के अनुसार हैं।

जिस वस्तु के जो गुण हैं, उन गुणों से वह वस्तु युक्त हो, ऐसी स्थिति में गुणानुसार वस्तु का निरूपण करना भाव-निक्षेप है। जैसे जीव के निज गुण ज्ञान आदि और अजीव के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि। गुण रहित वस्तु को उस गुण से सहित बोलना भाव-निक्षेप नहीं है।

भाव-निक्षेप के दो भेद हैं:— (१) आगम से भाव-निक्षेप और (२) नो-आगम से भाव निक्षेप।

(१) शुद्ध परिणामों के साथ भावार्थ पर उपयोग लगाकर अन्तःकरण की रुचिपूर्वक शास्त्र पढ़ना अथवा पढ़ाना। यही आगम से भाव निक्षेप है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव
चौथा द्वार

(१) द्रव्य

द्रव्य के ६ भेद हैं:—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ काल, ५ जीवास्तिकाय, और ६ पुद्गलास्तिकाय।

इन छह ही द्रव्यों की सामान्यता और विशेषता बतलाने की दृष्टि से नीचे चौदह बोल क्रमशः दिये जाते हैं:—

(१) जीव और पुद्गल परिणामी और चार अपरिणामी।

(२) केवल जीव द्रव्य ही सचित्त और ज्ञानमय, शेष पाँच अजीव याने जड़ और चेतनरहित।

(३) केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिमय याने रूपवाला और बाकी पाँच अमूर्तिक याने रूप रहित।

(४) केवल काल ही अप्रदेशी है, और पाँच सप्रदेशी हैं।

(५) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य तो एक एक ही हैं, शेष तीन अनेक हैं।

(६) आकाश क्षेत्र रूप है पाँचों द्रव्य क्षेत्री हैं, याने पाँचों आकाश का आधार लेकर ठहरे हुए हैं।

(७) जीव और पुद्गल क्रियाशील हैं, जब कि शेष चार अक्रिया वाले हैं।

(८) पुद्गल द्रव्य अनित्य है, अतएव प्रत्येक क्षण उसके रूप, रस, गंध, और स्पर्श में अन्तर आता रहता है। शेष पांच नित्य हैं।

(९) जीव द्रव्य अकारणी है; पाँच कारणी हैं।

(१०) जीव कर्त्ता है; पाँच अकर्त्ता है।

(११) आकाश सर्वव्यापी है; पाँच व्यापक हैं।

(१२) जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय; ये तीन द्रव्य तो असंख्यात प्रदेशी हैं, काल अप्रदेशी है, तथा आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अनन्त प्रदेशी हैं।

(१३) आकाश लोकालोक के बराबर है, काल ढ़ाई द्वीप पर्यन्त ही है, और शेष चार द्रव्य लोकाकाश तक ही सीमित हैं।

(१४) छः ही द्रव्य अनादि हैं और अनन्त हैं, अंत रहित हैं।

इस प्रकार विविध ढंग से आगम-ग्रंथों में छः ही द्रव्यों के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है।

(२) क्षेत्र

(२) क्षेत्र—मूल रूप से क्षेत्र के दो भेद हैं, अलोक और लोक। अलोक तो अनन्त और असीम है। लोक ३४३ राजु घनाकार विस्तार में है।

राजु की परिभाषा इस प्रकार कही गई है:—

३८१२७९७० मन का एक भार तोल विशेष माना जाय, ऐसे १००० भार का वजनी लोहे का एक गोला यदि कोई देव विशेष ऊपर आकाश क्षेत्र से नीचे की ओर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर फेंके, ऐसा गोला फेंकने पर वह गोला ६ महीने, ६ दिन

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव
चौथा द्वार

(१) द्रव्य

द्रव्य के ६ भेद हैं:—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ काल, ५ जीवास्तिकाय, और ६ पुद्गलास्तिकाय।

इन छह ही द्रव्यों की सामान्यता और विशेषता बतलाने की दृष्टि से नीचे चौदह बोल क्रमशः दिये जाते हैं:—

(१) जीव और पुद्गल परिणामी और चार अपरिणामी।

(२) केवल जीव द्रव्य ही सचित्त और ज्ञानमय, शेष पाँच अजीव याने जड़ और चेतनरहित।

(३) केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिमय याने रूपवाला और बाकी पाँच अमूर्तिक याने रूप रहित।

(४) केवल काल ही अप्रदेशी है, और पाँच सप्रदेशी हैं।

(५) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य तो एक एक ही हैं, शेष तीन अनेक हैं।

(६) आकाश क्षेत्र रूप है पाँचों द्रव्य क्षेत्री हैं, याने पाँचों आकाश का आधार लेकर ठहरे हुए हैं।

(७) जीव और पुद्गल क्रियाशील हैं, जब कि शेष चार अक्रिया वाले हैं।

(८) पुद्गल द्रव्य अनित्य है, अतएव प्रत्येक क्षण उसके रूप, रस, गंध, और स्पर्श में अन्तर आता रहता है। शेष पांच नित्य हैं।

(९) जीव द्रव्य अकारणी है; पाँच कारणी हैं।

(१०) जीव कर्त्ता है; पाँच अकर्त्ता है।

(११) आकाश सर्वव्यापी है; पाँच व्यापक हैं।

(१२) जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय; ये तीन द्रव्य तो असंख्यात प्रदेशी हैं, काल अप्रदेशी है, तथा आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अनन्त प्रदेशी हैं।

(१३) आकाश लोकालोक के बराबर है, काल ढ़ाई द्वीप पर्यन्त ही है, और शेष चार द्रव्य लोकाकाश तक ही सीमित हैं।

(१४) छः ही द्रव्य अनादि हैं और अनन्त हैं, अंत रहित हैं।

इस प्रकार विविध ढंग से आगम-ग्रंथों में छः ही द्रव्यों के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है।

(२) क्षेत्र

(२) क्षेत्र—मूल रूप से क्षेत्र के दो भेद हैं, अलोक और लोक। अलोक तो अनन्त और असीम है। लोक ३४३ राजु घनाकार विस्तार में है।

राजु की परिभाषा इस प्रकार कही गई है:—

३८१२७९७० मन का एक भार तोल विशेष माना जाय, ऐसे १००० भार का वजनी लोहे का एक गोला यदि कोई देव विशेष ऊपर आकाश क्षेत्र से नीचे की ओर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर फेंके, ऐसा गोला फेंकने पर वह गोला ६ महीने, ६ दिन

और ६ घड़ी में जितनी दूरी पार करे, उतनी दूरी वाले क्षेत्र की लंबाई एक राजु के समान समझना।

पहली नरक १० घन राजु के विस्तार में फैली हुई है। दूसरी १६ घन राजु के विस्तार में है। इस प्रकार तीसरा २२ घन राजु, चौथी २८ घन राजु, पांचवी ४४ घन राजु, छट्ठी ३४ घन राजु और सातवीं ४६ घन राजु के विस्तार में फैली हुई है। यों सब मिलाकर १९६ घन राजु वाला नीचा लोक है। तिरछा अथवा मध्य लोक १० घन राजु के विस्तार वाला है। ऊर्ध्वलोक अथवा ऊँचा लोक क्षेत्रफल की दृष्टि से १३७ घनाकार राजु वाला है:-

(१) पहला और दूसरा देवलोक १९॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(२) तीसरा और चौथा देवलोक १९॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(३) पाँचवाँ और छट्ठा देवलोक ३७॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(४) सातवाँ और आठवाँ देवलोक १४॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(५) नवयाँ और दशवाँ देवलोक १२॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(६) ग्यारहवाँ और बारहवाँ देवलोक १०॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(७) नवग्रैवेयक देवलोक ८॥ घनाकार राजु वाले हैं।

(८) पाँच अनुत्तर विमान देवलोक ६॥ घनाकार राजु वाले हैं।

: (६) सिद्ध क्षेत्र ११ घनाकार राजु वाला है।

इस प्रकार संपूर्ण लोक का क्षेत्रफल ३४३ घनाकार राजु जितना है।

लोक के मध्य भाग में एक राजु जितनी चौड़ी और १४ राजु जितनी लम्बी एवं बिल्कुल सीधी एक त्रस नाड़ी रूप क्षेत्र है, जो कि सातवीं नरक के ठेठ नीचे के भाग से प्रारम्भ हो कर मोक्ष-स्थान के अंतिम छोर तक चला गया है। इस क्षेत्र में त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीव हैं। लोक के शेप क्षेत्रफल में केवल स्थावर जीव ही रहते हैं। नीचा लोक सात राजु जितना है, मध्य लोक १८०० योजन जितना है; तथा ऊर्ध्व लोक याने ऊंचा लोक भी १८०० योजन कम सात राजु जितना है इस प्रकार से सम्पूर्ण लोक की ऊंचाई १४ राजु जितनी है।

(३) काल

(३) काल—आँख के एक निमेप मात्र में-एक टमकारा मात्र में—जितना काल व्यतीत होता है; वह असंख्यात समय वाला गिना जाता है। असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। ४४४६ आवलिकाओं के बराबर एक श्वासोच्छ्वास जितना काल माना जाता है। सात श्वासोच्छ्वास जितने काल के बराबर एक स्तोक माना जाता है। सात स्तोक का एक लव होता है। ७७ लवों का एक मुहूर्त्त गिना जाता है। ३० मुहूर्त का दिन-रात गिना जाता है। १५ दिन रात्रि का एक पक्ष होता है। दो पक्षों का एक महिना; २ महिनों की एक ऋतु; ३ ऋतुओं का एक अयन; दो अयनों का एक वर्ष; और ५ वर्षों का एक युग; गिना जाता है।

काल-चक्र का परिमाण इस प्रकार माना जाता है:—

(१) अनन्त सूक्ष्म परमाणु = एक बादर परमाणु।

(२) अनन्त बादर परमाणु = एक उष्ण श्रेणिवाले पुद्गल।

(३) आठ उष्ण श्रेणिवाले पुद्गल = एक शीत श्रेणिवाले पुद्गल।

(४) आठ शीत श्रेणिवाले पुद्गल = एक ऊर्ध्व रेणु।

(५) आठ ऊर्ध्व रेणु = एक त्रस रेणु।

(६) आठ त्रस रेणु = एक रथ रेणु।

(७) आठ रथ रेणु = देवकुरु उत्तर कुरुक्षेत्र के युगलिआ पुरुष का एक बालाग्र भाग।

(८) देवकुरु उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिआ पुरुष के आठ बालाग्र भाग = हरिवास, रम्यक् वास क्षेत्र के मनुष्य का एक बालाग्र भाग।

(९) हरिवास, रम्यक् वास क्षेत्र के मनुष्य के आठ बालाग्र भाग = हैमवत, हिरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का एक बालाग्र भाग।

(१०) हैमवत, हिरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य के आठ बालाग्र भाग = महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य का एक बालाग्र भाग।

(११) महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य के आठ बालाग्र भाग = एक लीख की लम्बाई।

(१२) आठ लीखों की लम्बाई = १ जूँ की लंबाई।

(१३) आठ जूँओं की लम्बाई = एक जौ (धान्य) का मध्य भाग।

(१४) आठ जौ कणों का मध्यभाग=एक अच्छे ६ अंगुल की लंबाई।

(१५) ऐसे छह अंगुलों की लम्बाई=एक पउ भाग।

(१६) दो पउओं का एक बालिश्त।

(१७) दो बालिश्तों का एक हाथ।

(१८) दो हाथों की लंबाई—एक कुक्षी प्रमाण।

(१९) दो कुक्षी प्रमाणों के बराबर एक धनुष्य।

(२०) दो हजार धनुष्यों का एक गाऊ।

(२१) चार गाऊओं के बराबर एक योजन।

(२२) पल्योपम का मापदंड इस प्रकार कहा गया है:—

मान लिया जाय कि एक ऐसा कूप है, जो कि एक योजन लंबा हो, एक योजन चौड़ा हो और एक ही योजन गहरा हो,उसमें देवकुरु, उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य के सात दिन के बच्चे के बालाग्र बराबर बालों को खंड खंड करके भरे जाँय और विशेषता यह हो कि वे बाल इस प्रकार खंडित किये जाँय; कि उनके पुनः टुकड़े किसी भी तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा भी नहीं हो सकें, तथा आँख में डालने पर भी जो खटकने सरीखे नहीं हों, ऐसे मुलायम और सूक्ष्मतम एवं अखंडनीय बालाग्र-समूहों से वह कूप इस प्रकार ठसाठस भरा जाय कि—यदि चक्रवर्ती की संपूर्ण सेना उस पर से निकल जाय, तो भी उसमें दबाव नहीं पड़े, यदि गंगा नदी का ६२॥ योजन जितना पाट का प्रवाह उस पर से बह जाय, तो भी पानी का प्रवाह उसमें प्रवेश कर सके नहीं, ऐसी आश्चर्यजनक स्थिति होने पर ही, १००-१०० वर्ष व्यतीत होने पर उसमें से क्रमशः एक एक रज, निकालते हुए जितने वर्षों

में वह कूप सर्वथा खाली हो जाय और उसमें एक भी रज शेष नहीं रहे, उतने वर्षों का एक पल्योपम समझना चाहिये।

ऐसे दश करोड़ा करोड़ी (करोड़ करोड़) पल्योपमों का एक सागरोपम होता है।

दश करोड़ाकरोड़ी सागरोपमों का एक उत्सर्पिणी काल होता है और पुनः दश करोड़ाकरोड़ी सागरोपमों का ही एक अवसर्पिणी काल माना जाता है। यों दोनों को मिलाने पर एक कालचक्र होता है। इस प्रकार आज दिन तक अनंतानंत कालचक्र व्यतीत हो गये हैं और भविष्य में भी अपरिमित अनंतानंत कालचक्र जितना समय होगा।

(४)

भाव-वर्णन

मुख्यरूप से भाव पाँच प्रकार के कहे गये हैं—औदयिक-भाव, औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और पारिणामिक भाव।

(१) औदयिक भाव २१ प्रकार का कहा गया है, जो कि इस प्रकार है—

(१) चार गतियाँ—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

(२) चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ।

(३) छह प्रकार की लेश्याएँ—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

(४) तीन वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

(५) एक मिथ्यात्व, एक अज्ञान, एक अव्रत अथवा असंयम और एक असिद्ध भाव।

(२) औपशमिक भाव दो प्रकार का है—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

(३) क्षायिक—भाव ६ प्रकार का कहा गया है:—दान अन्तराय आदि पाँच अन्तराय कर्म का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाली पाँच लब्धियाँ—दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और वलवीर्य लब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और नववाँ क्षायिक यथाख्यात चारित्र।

(४) क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद बतलाये गये हैं:—

(१) आदि के चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान और मनःपर्यायज्ञान।

(२) तीन अज्ञान—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग अज्ञान।

(३) आदि के तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन।

(४) दान—अंतराय आदि पाँचों अन्तरायों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली पाँचों क्षायोपशमिक लब्धियाँ इस प्रकार हैं:—दान-क्षायोपशमिक लब्धि, लाभ-क्षायोपशमिक लब्धि, भोग क्षायोपशमिक लब्धि, उपभोग क्षायोपशमिक लब्धि और वल-वीर्य क्षायोपशमिक लब्धि, ये पाँच क्षायोपशमिक लब्धियाँ जानना।

(१६) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (१७) क्षायोपशमिक चारित्र और (१८) क्षायोपशमिक संयमासंयम व्रत अर्थात् देश विरति चारित्र।

(५) पाँचवें पारिणामिक भाव के ३ भेद किये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं—(१) जीवत्व परिणाम, (२) भव्यत्व परिणाम और (३) अभव्यत्व परिणाम।

इन पांचों भावों के पुनः कई एक उपभेद एवं प्रभेद भी होते हैं, जिनका वर्णन अब किया जाता है:—

उदय भावों के दो भेद हैं, उदय सम्बन्धी और उदय-निष्पन्न। आठों कर्मों द्वारा फल प्रदान करना और इनका उदय में आना ही उदय सम्बन्धी भाव है।

उदय-निष्पन्न भी दो प्रकार का है, जीव सम्बन्धी उदय और अजीव से सम्बन्धित उदय।

जीव से सम्बन्धित उदय के ३१ भेद कहे गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं :-

(१ से ४) चारगति—नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

(५ से ८) चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

(९ से १४) छह लेश्याएँ—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या।

(१५ से २०) ६ काय—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउ काय वायु काय, वनस्पतिकाय, और त्रसकाय।

(२१ से २३) तीन वेद—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद।

(२४) मिथ्यात्व, (२५) अव्रत, (२६) अज्ञान, (२७) असंज्ञित्व, (२८) आहारस्थ, (२९) संसारस्थ, (३०) अकेवलित्व (३१) असिद्धत्व।

अजीव से संबंधित उदय के ३० भेद हैं:-

(१ से ५) पाँच शरीर—औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस् शरीर और कार्माण शरीर।

(६ से १०) पाँचों शरीरों के रूप में परिणित होने वाले पाँचों प्रकार के पुद्गल विशेष।

(११ से १५) पाँच वर्ण-काला, पीला, नीला, सफेद और लाल

(१६ से १७) दो गंध--सुगंध और दुर्गंध।

(१८ से २२) पाँच रस--खट्टा, मीठा, कड़ुआ, कषायला और चरपरा।

(२३ से ३०) आठ स्पर्श--कोमल, कठोर, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

उपशम-भाव भी दो प्रकार का है:—उपशम सम्बन्धि और उपशम निष्पन्न।

उपशम—सम्बन्धी से तात्पर्य है-मोहनीयकर्म की प्रकृतियों की उपशम-अवस्था। ढकी हुई अवस्था। उपशम-निष्पन्न ग्यारह प्रकार का कहा गया है:—चार कषाय, १ राग, १ द्वेष, १ दर्शन मोहनीय, १ चारित्र मोहनीय, १ दर्शनलब्धि, १ चारित्रलब्धि, १ छद्मस्थभाव, अर्थात् उपशम वीतराग अवस्था (ग्यारहवाँ गुण स्थान)।

क्षायिकभाव भी दो प्रकार का है—

(१) क्षायिक-संबंधित और (२) क्षायिक-निष्पन्न।

क्षायिक-सम्बन्धित से तात्पर्य "आठों कर्मों का क्षय होना ही" है।

क्षयोपशम से निष्पन्न के ३० भेद हैं-(१ से ४) आदि के चार ज्ञान-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान।

(५ से ७) तीन अज्ञान-मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान।

(८ से १०) तीन दर्शन--चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन।

(११ से १३) तीन दृष्टि-सम्यक् दृष्टि, मिथ्या दृष्टि और मिश्र दृष्टि।

(१४ से १७) प्रथम के चार चारित्र-सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार विशुद्धि चारित्र और सूक्ष्म साम्परायिक चारित्र।

(१८ से २३) दान आदि पाँच लब्धियाँ।

(२३ से २७) पाँचों इन्द्रियों की लब्धियाँ।

(२८) एकपूर्व का ज्ञान, (२९) आचार्य पद, (३०) द्वादशांगी ज्ञान।

पारिणामिक भाव भी दो प्रकार का है।

(१) सादि पारिणामिक भाव और (२) अनादि पारिणामिक भाव।

जो भाव पर्यायशील हो, वे सादि पारिणामिक भाव हैं, जैसे कि--कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि।

जो भाव नित्यस्वरूप हों, उपादान--उपादेय रूप हों, तत् स्वरूप हों, वे अनादि पारिणामिक भाव हैं। जैसे कि--अस्तित्व धर्म, गुणवत्त्व धर्म, प्रदेशवत्त्व धर्म, असंख्यात प्रदेशत्व धर्म, अरूपत्व धर्म आदि।

द्रव्य और भाव
पांचवाँ द्वार

द्रव्य से जीव द्रव्य शाश्वत हैं, अक्षय हैं, नित्य हैं और अनन्तानन्त हैं। भाव-दृष्टि से जीव द्रव्य अशाश्वत हैं, पर्यायशील हैं। विभिन्न गतियों में और विभिन्न अवस्थाओं में परिभ्रमण करते ही रहते हैं। अन्य द्रव्यों के संबध में भी यही समझना चाहिए कि-'द्रव्यदृष्टि से सभी द्रव्य शाश्वत हैं और भावदृष्टि से-पर्यायदृष्टि से-अशाश्वत हैं।'

प्रकारान्तर से द्रव्य और भाव का तात्पर्य इस प्रकार भी समझाया जाता है—

जैसे किसी एक भँवरे ने अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति अनुसार लकड़ी में छेद करना आरम्भ किया, छेद करते-करते उसमें 'क" जैसी आकृति बन गई, ऐसी घटना घटने पर उक्त रीति से निर्मित "क" भँवरे के लिये तो "द्रव्य क" है। परन्तु एक पढ़े लिखे विद्वान पुरुष के लिये वही "क" "भाव क" है। यही तात्पर्य सम्यक्त्व पर भी घटाया जा सकता है—

सम्यक्त्वरहित याने शुद्ध श्रद्धा से हीन मिथ्यात्वी का ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप केवल द्रव्यज्ञान, द्रव्यदर्शन, द्रव्य-चारित्र और द्रव्यतप ही है। जब कि जिनाज्ञानुसार श्रद्धाशील

पुरुष की प्रवृत्ति एकान्त निर्जरा रूप होती है, तदनुसार उसका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, भाव ज्ञान, भाव दर्शन, भाव चारित्र और भाव तप होता है।

कारण और कार्य

छट्ठा द्वार

कारण के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है। कारण के अभाव में कार्य कदापि उत्पन्न नहीं हुआ करता है। भूख लगने पर ही भोजन की आवश्यकता अनुभव हुआ करती है। किसी भी द्वीप में जाने की भावना होने पर मार्ग मे यदि समुद्र पड़ता है, तो निश्चिय ही जहाज की आवश्यकता होगी।

निश्चय और व्यवहार

सातवाँ द्वार

---

(१) निश्चय में जीव-आत्मा सदा अमर है, परन्तु व्यवहार में कहा जाता है कि जीव मर गया।

(२) निश्चय में अग्नि के साथ लकड़ी, कन्डे आदि इन्धन वस्तुएें जला करती हैं, परन्तु व्यवहार में बोला जाता है कि—

चूल्हा जलता है, अथवा दावानल के प्रज्वलित होने पर कहा जाता है कि पहाड़ जल रहा है।

(३) निश्चय में आदमी ग्राम अथवा कूप के समीप पहुंचता है, परन्तु व्यवहार में बोला जाता है कि—ग्राम आ गया कूप आ गया।

(४) निश्चय में पानी टपकता है, परन्तु व्यवहार में कहा जाता है कि घर टपकता है, घर चूता है। इत्यादि रूप से एवं विविध दृष्टान्तों से निश्चय और व्यवहार का स्वरूप समझ लेना चाहिये। छद्मस्थ के लिये व्यवहार पहले है और निश्चय पीछे है। केवलज्ञानी के लिये निश्चय पहले है और व्यवहार पीछे है।

अब निश्चय और व्यवहार के अनुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप के संबंध में कुछ प्रकाश डाला जाता है।

(१) जीव के आन्तरिक प्रदेशों में सम्यक्त्व पूर्वक नव तत्त्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान होना यही निश्चय ज्ञान है। जब कि आचारांग आदि सूत्रों का पठन-पाठन, मनन, सद्बोध, आ व्यावहारिक ज्ञान है।

(२) आन्तरिक रूप से जीव आदि तत्त्वों पर यथातथ्य रूप से श्रद्धा होना, आस्था होना, यही निश्चय-सम्यक्त्व हो किन्तु शंका आदि पाँच दोष रहित, एवं प्रभावना आदि आठ गुण रहित प्रवृत्ति करना, यह व्यावहारिक सम्यक्त्व दर्शन है।

(३) सम्यक्त्व पूर्वक अन्तःकरण की भावना के साथ अठारह पापों का परित्याग करना, यही निश्चय चारित्र है। किन्तु पांचों महाव्रतों का, पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन, यही व्यावहारिक चारित्र है।

(४) सम्यक्त्व पूर्वक, अठारह ही पापों का परित्याग करते हुए चारित्र-पालन में वीर्य-उत्साह के साथ याने पराक्रम-पूर्वक आत्मा का तल्लीन होना एवं पर-पदार्थों के प्रति ममता-भाव से रहित होना, यही निश्चय तप है और अनशन आदि बारह प्रकार के तप का निर्जरा के लिये पालन करना, वह व्यवहार तप है।

निश्चय मार्ग तो मुक्ति का दाता है और व्यवहार मार्ग मुक्ति का साधक है।

उपादान एवं निमित्त

आठवाँ द्वार

आदान-सामग्री मूल कारण रूप हुआ करती है, जो कि स्वयं कार्य के रूप में परिणित होती है; जो संयोग प्राप्त होते ही स्वयं कार्य का रूप धारण करे, कार्य का आकार बन जाय, वही उपादान है।

जो उपादान-सामग्री के लिये कार्य के रूप में परिणित होते समय सहायक हो, कार्य का रूप धारण कराने में सहायता प्रदान करे, वह निमित्त कहलाता है।

इस प्रकार कार्य का मूल कारण—जनक कारण तो उपादान तत्त्व हुआ करता है और सहायक कारण निमित्त तत्त्व हुआ करता है। इस सम्बन्धी सामान्य उदाहरण इस प्रकार है—

(१) उपादान मिला गाय का, निमित्त मिला दूहने वाले का, तब दूध प्राप्त हुआ।

(२) उपादान मिला दूध का, निमित्त मिला खटाई का, तब दही तैयार हुआ।

(३) उपादान मिला दही का, निमित्त मिला मथनी का-रवाई रूप दंड का-तब छाछ और मक्खन की प्राप्ति हुई।

(४) उपादान मिला मक्खन का, निमित्त मिला अग्नि का, तब घृत की उत्पत्ति हुई।

(५) उपादान मिला घृत का, निमित्त मिला खाने वाले का, तब शरीर में पुष्टता प्राप्त हुई।

(६) उपादान मिला माता का, निमित्त प्राप्त हुआ पिता का, तब पुत्रोत्पत्ति हुई।

(७) उपादान मिला ज्ञानी गुरु का, निमित्त मिला विनीत शिष्य का, तब ज्ञान का विकास हुआ।

(८) उपादान मिला आटे का, निमित्त मिला रसोइये का, तब रोटी की उत्पत्ति हुई।

ऐसे ही सभी पदार्थों की उत्पत्ति उपादान कारण और निमित्त कारण के संयोग से हुआ करती है।)
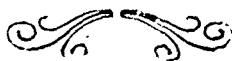
चार प्रमाण

नववाँ द्वार

जो ज्ञान अपना और अन्य पदार्थ का निस्संशय के साथ निश्चयपूर्वक स्वरूप समझावे, वही ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वस्तु की वस्तुता को परिपूर्ण रीति से एवं दोषरहित पद्धति से समझाने वाला और उसकी सिद्धि करने वाला ज्ञान ही प्रमाण कहा जाता है। ऐसा प्रमाण मुख्य रूप से चार प्रकार का कहा गया है:—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण, (२) अनुमान प्रमाण, (३) आगम प्रमाण और (४) उपमान प्रमाण।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष।

इन्द्रियाँ भी दो प्रकार की हैं:—

द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय।

पुनः द्रव्य इन्द्रिय के दो भेद हैं। निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येंद्रिय।

निर्वृत्ति द्रव्येंद्रिय भी पुनः दो प्रकार की कही गई है—आभ्यंतर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति।

उत्सेध अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुद्ध आत्म-प्रदेशों का नेत्र आदि इन्द्रियों के आकार रूप में परिणित होकर रहना, ऐसी रचना विशेष को ही आभ्यंतर निर्वृत्ति कहते हैं।

विषय नाम कर्म और इन्द्रिय नाम कर्म के उदय से इंद्रियों के आकार रूप पुद्गलों की रचना विशेष को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

जो निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसको उपकरण कहा जाता है। उपकरण के भी दो भेद हैं—

(१) अभ्यंतर उपकरण और (२) बाह्य उपकरण। नेत्र इन्द्रिय में कृष्ण, शुक्ल मण्डल की तरह जो सब इन्द्रियों में निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसको आभ्यंतर उपकरण कहते हैं।

नेत्र इन्द्रिय में पलक आदि की तरह जो निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसको बाह्य उपकरण कहा जाता है।

भाव इन्द्रिय के दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों में जानने की, समझने की जो शक्ति प्रकट होती है, वही लब्धि भाव इंद्रिय है। लब्धि गुण की शक्ति के अनुसार आवश्यकता होने पर इंद्रियों का यथा-योग्य काम में आना यही उपयोग भाव इंद्रिय है।

इंद्रियों के मुख्य रूप से पाँच भेद हैं—१ स्पर्शन इंद्रिय, २ रसना इंद्रिय, ३ घ्राण इंद्रिय, ४ चक्षु इंद्रिय और ५ श्रोत्र इंद्रिय।

इंद्रियों की विषय-शक्ति का परिमाण इस प्रकार कहा गया है।

(१) एकेन्द्रिय प्राणी की स्पर्शना इन्द्रिय का विषय ४०० धनुष्य तक का।

(२) द्वीन्द्रिय प्राणी की स्पर्शना इंद्रिय का विषय ८०० धनुष्य तक का।

(३) तीन इंद्रिय वाले प्राणी की स्पर्शना इंद्रिय का विषय १६०० धनुष्य तक का।

(४) चार इंद्रिय वाले प्राणी की स्पर्शना का विषय ३२०० धनुष्य तक का।

(५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी की स्पर्शना इंद्रिय का विषय ६४०० धनुष्य तक का।

(६) संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी की स्पर्शना इंद्रिय का विषय १२ योजन तक का ।

(७) दो इंद्रिय प्राणी की रसना इंद्रिय का विषय ६४ धनुष्य तक का।

(८) तीन इंद्रिय वाले प्राणी की रसना इंद्रिय का विषय १२८ धनुष्य तक का।

(६) चार इंद्रिय वाले प्राणी का रसना इंद्रिय का विषय २५६ धनुष्य तक का।

(१०) असंज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी की रसना इंद्रिय का विषय ५१२ धनुष्य तक का।

(११) संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी की रसना इंद्रिय का विषय १२ योजन तक का ।

(१२) तीन इन्द्रिय वाले प्राणी की घ्राण इंद्रिय का विषय १०० धनुष्य तक का।

(१३) चार इंद्रिय वाले प्राणी की घ्राण इंद्रिय का विषय २०० धनुष्य तक का।

(१४) असंज्ञी पंचेंद्रिय प्राणी की घ्राण इंद्रिय का विषय ४०० धनुष्य तक का।

उपभेदों के मूलनामों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) नाम, जाति, रूप, रंग आदि किसी भी प्रकार की विशेष कल्पना से रहित जो अतिसामान्य रूप एवं निर्विचार रूप ज्ञान होता है, वही 'अवग्रह' है। जैसे गहन अन्धकार में कुछ छू जाने पर 'यह कुछ है' ऐसा ज्ञान होना। इस ज्ञान में यह नहीं मालूम होता है कि किस वस्तु का स्पर्श हुआ है। यह अव्यक्त, अस्पष्ट और विशेषता से रहित होता है।

(२) अवग्रह द्वारा जो कुछ अति सामान्य और निर्विकल्प ज्ञान हुआ है, उसीके सम्बन्ध में विशेष जानकारी करने के लिये जो विचारणा अथवा विकल्प पैदा होते हैं, उसे ही 'ईहा' कहा जाता है। जैसे कि मुझे 'जो कुछ छू सा (स्पर्श-सा) गया है', वह सर्प था या रस्सी? यदि सर्प होता तो 'पैर पड़ गया था', अतएव उसे सरकना चाहिये था, परन्तु वह वस्तु सरकी नहीं, अतः सर्प नहीं था, किन्तु वह तो केवल रस्सी का टुकड़ा मात्र था। इस ढंग की विचार-श्रेणी ईहा कहलाती है।

(३) ईहा के द्वारा जो कुछ विचारणा और जो कुछ निश्चयात्मक कल्पना उत्पन्न हुई है, उसका विशेष रीति से दृढ़ होना और अधिक स्पष्ट एवं कुछ अधिक समय तक स्मृति में रहना, यही ज्ञान 'अवाय' कहलाता है। जैसे कि—उक्त दृष्टान्त में ही यह स्थिति रहना कि-मैं अमुक स्थान पर जा रहा था तब मेरे पैर में रस्सी छू गई थी और वह किसी भी दशा में सर्प नहीं था, रस्सी ही थी।

(४) अवाय रूप ज्ञान ही जब लंबे समय तक हमारी विचार-धारा में बना रहे और भविष्य में भी अनुकूल संयोग

मिलने पर तत्काल स्मृति में आ जाय, कदापि विस्मृति रूप न हो, ऐसा ज्ञान ही 'धारणा' कहलाता है। अवाय रूप ज्ञान के पश्चात् जो ज्ञान हमारी मस्तिष्क शक्ति में संस्कार रूप से बना रहे और दृढ़ीभूत स्मृति में परिणित हो जाय, वही ज्ञान धारणा है।

ये चारों ही भेद इन्द्रियों और मन की सहायता से संबंध रखते हैं, इसलिये ये मतिज्ञान की ही पर्यायें हैं। ये चारों क्रम से ही उत्पन्न होते हैं। अति शीघ्रता की स्थिति में भी इनका क्रम टूटता नहीं है। जैसे कि—यदि पतले पतले सौ कागजों की तह को अति तीक्ष्ण नोक वाली सूई के अग्रभाग से विंधा जाय—छेदा जाय—तो प्रतीत होगा कि जैसे एक सेकिंड में छिद जाने पर भी प्रत्येक कागज में छेद क्रम से ही पड़ा है, वैसे ही इन चारों ज्ञान-पर्यायों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

उपरोक्त 'स्पर्श-संबंधी' दृष्टान्त केवल स्पर्शना इन्द्रिय का ही दिया गया है, शेष इन्द्रियों और मन संबंधी दृष्टान्त अपने आप ही समझ लेना चाहिये।

ऊपर जो २८ भेद वाला नक्शा दिया गया है, उन उप-भेदों में से प्रत्येक उपभेद के पुनः बारह बारह भेद होते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) बहुग्राही, (२) अबहु-अल्प-ग्राही, (३) बहुविधग्राही, (४) एकविधग्राही-अबहुविधग्राही, (५) शीघ्रग्राही, (६) अक्षिप्र-ग्राही, (७) सलिंगग्राही, (८) अलिंगग्राही, (९) संदिग्धग्राही, (१०) असंदिग्धग्राही, (११) ध्रुवग्राही और (१२) अध्रुवग्राही।

इनकी सामान्य व्याख्या इस प्रकार है—

चूंकि प्रत्येक संसारी जीव के कर्मों का क्षयोपशम भिन्न भिन्न प्रकार का होता है, अतएव ज्ञान की धारा भी भिन्न भिन्न प्रकार की होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि अनेक प्राणी जब एक ही स्थान पर ठहरे हुए हों और शंख, नगाड़ा आदि कई एक तरह २ के वाद्य-बाजे बज रहे हैं तो उनके शब्दों में से उनका ज्ञान सभी को भिन्न २ तरह से होता है, किसी को शीघ्रता से तो किसी को देरी से, किसी को क्रम से, तो किसी को एक साथ, किसी को निश्चित रूप से, तो किसी को अनिश्चित रूप से यही ज्ञान-क्रम इन बारह ही प्रभेदों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिये। इनकी स्थूल व्याख्या इस प्रकार है—

(१) एक ही समय में अनेक शब्दों का ग्रहण किया जाय, बहुग्राही ज्ञान है।

(२) एक ही समय में एक ही शब्द का ग्रहण किया जाना अबहुग्राही ज्ञान है।

(३) भिन्न २ प्रकार से भेदभाव पूर्वक शब्दों का ग्रहण किया जाना, बहुविधग्राही ज्ञान है।

(४) भेदभाव रहित ग्रहण किया जाना अबहुविधग्राही ज्ञान है।

(५) जल्दी से ग्रहण किया जाना, क्षिप्रग्राही ज्ञान है।

(६) देरी से ग्रहण किया जाना, अक्षिप्रग्राही ज्ञान है।

(७) लक्षणों के आधार से अनुमान द्वारा ग्रहण किया जाना, सलिंगग्राही ज्ञान है।

(८) बिना अनुमान किये ही ग्रहण किया जाना, अलिंगग्राही ज्ञान है।

(९) शंकासहित ग्रहण किया जाना, संदिग्धग्राही ज्ञान है।

(१०) शंका रहित ग्रहण किया जाना, असंदिग्धग्राही ज्ञान है।

(११) निश्चयात्मक रूप से एक ही बार सुन लेने पर समझ लेना, ध्रुवग्राही ज्ञान है।

(१२) अनिश्चयात्मक रूप से समझना, अध्रुवग्राही ज्ञान है

इस प्रकार ऊपर बतलाये हुए २८ अभेदों में से प्रत्येक उपभेद के ये १२ प्रकार के प्रभेद हुआ करते हैं, यों २८ को १२ से गुणा करने पर ३३६ भेद-उपभेद-प्रभेद मतिज्ञान के समझना चाहिये। मन और आँख द्वारा पदार्थों को विना छुए ही ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है, जब कि बाकी की चारों इंद्रियों का पदार्थ के साथ स्पर्श एवं सम्बंध होने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि व्यंजनावग्रह नामक ज्ञान-पर्याय मन और आँख के नहीं हुआ करती है, तदनुसार मन और आँख के अर्थावग्रह, ईहा आदि चार ही भेद गिनाये हैं, किन्तु शेष चार इंद्रियों का पदार्थों के साथ सम्बंध होना अति आवश्यक है। इसी कारण से इन चारों के व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा आदि रूप से पाँच २ भेद किये गये हैं, यही अन्तर ध्यान में रहना चाहिये। व्यंजनावग्रह अर्थावग्रह का ही एक पूर्व रूप है, जो कि निश्चेष्ट, निर्विकल्प, और निष्प्रवृत्ति रूप अति अस्पष्ट ज्ञान-पर्यायरूप होता है। 'मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभि निबोध' आदि शब्द मतिज्ञान के ही पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि इन शब्दों से जो कुछ अर्थ निकलता है, वह सब इंद्रियों और मन से उत्पन्न हुआ ही होता है। जो कि मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्बंध रखता है।

जिस आत्मा के क्षयोपशम की स्थिति उच्च दर्जे की हो
है, वह तो 'बहुग्राही, क्षिप्रग्राही, बहुविधग्राही, असंदिग्ध
ध्रुव ग्राही' आदि ज्ञान-पर्यायों का धारक हुआ करता है, और
जिस आत्मा के क्षयोपशम की स्थिति निम्न दर्जे की हुआ कर
है, उसके लिये 'अबहुग्राही, अक्षिप्रग्राही, संदिग्धग्राही'
ज्ञान पर्याय में उत्पन्न हुआ करती हैं।

इन बारह भेदों में से आदि के चार भेद तो विषय या
ज्ञेय रूप पदार्थ से सम्बंध रखने वाले हैं, जब कि बाकी के आ
भेद क्षयोपशम से सम्बंध रखते हैं।

यह भी ध्यान में रहे कि मतिज्ञान के ये भेद द्रव्य
पर्याय को ही ग्रहण करते हैं, न कि सम्पूर्ण द्रव्य को। इसलि
इस ज्ञान द्वारा द्रव्य का ज्ञान-पर्याय रूप से ही हुआ करता
और उपचार से उस पर्याय को ही द्रव्य माना जाता है। जै
आँख द्वारा आम देखा गया और समझा गया कि यह 'आम
नामक फल है। किन्तु इस घटना में केवल 'आम' नामक पदा
का रूप-रंग और आकार ही जाना गया है। न कि उसके स्वा
को और न उसके गुण और गंध को ही। फिर भी रूप-रंग और
आकार आम के अभिन्न अंग हैं, एवं इसी कारण से एक अं
के आधार से ही सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान हुआ मान लि
गया है। इसी तरह से स्पर्शना, रसना और घ्राण इन्द्रि
जब गरम गरम गुलाब जामुन आदि मिठाई रूप पदार्थ
ग्रहण करती हैं, उस समय में वे क्रम से उस पदार्थ के गर
स्पर्श, मीठे रस और सुगंध रूप पर्याय का ज्ञान करती हैं, ये
भी एक और अकेली इन्द्रिय ही उस पदार्थ की सभी पर्यायों
ज्ञान नहीं कर सकती है। इसी प्रकार से श्रवण इन्द्रिय भी मा

र्गणा के पुद्गलों की ध्वनिरूप पर्याय का ही ज्ञान कर सकती , न कि भाषा वर्गणा के पुद्गलों की अन्य पर्यायों को भी ाान सकती है। मन-शक्ति की भी यही दशा है, वह मन भी एक ामय में किसी भी पदार्थ के अमुक भाग का ही विचार कर ाकता है। इस प्रकार उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह सिद्ध है कि ' तज्ञान के ये भेद पर्याय को ही जानते हैं और पर्याय के ज्ञान ारा ही द्रव्य का स्वरूप भी जानते हैं।

अवग्रह, ईहा, आदि चार भेद पदार्थ की सामान्यस्थिति े सूचक हैं, जबकि 'बहुविध' आदि बारह भेद विशेष स्थिति े सूचक हैं। व्यञ्जनावग्रह ज्ञानोत्पत्ति क्रम का एक अति सूक्ष्मतम ौर अव्यक्ततम अंश मात्र है और यही अंश जब क्रम से विकास ारता है, तो उसे ही 'धारणा' कहा जाता है। ये सब शृङ्खला- ाद्ध ज्ञान-पर्यायें हैं।

इन ३३६ भेदों को समझाने वाला नक्शा इस प्रकार है:-

इस ढंग से मतिज्ञान के ये ३३६ भेद जैन साहित्य में ाखे जाते हैं। इनके सिवाय चार प्रकार की बुद्धि भी मतिज्ञान े भेदों के अन्तर्गत मानी जाती है, जो कि इस प्रकार है— (१) औत्पातिकी बुद्धि, (२) वैनयिकी बुद्धि, (३) कार्मिकी बुद्धि, ौर (४) पारिणामिकी बुद्धि। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) प्रसंग पड़ने पर कार्य की सिद्धि करने के लिये जो एकाएक उत्पन्न हो जाय, वह औत्पातिकी बुद्धि है।

(२) गुरुजनों की और पूजनीय पुरुषों की सेवा-भक्ति करने से एवं विनय से प्राप्त होने वाली बुद्धि वैनयिकी बुद्धि है।

(३) अभ्यास करते २ और कार्य में संलग्न रहते रहते उत्पन्न होने वाली बुद्धि कार्मिकी बुद्धि है।

(४) दीर्घ आयु प्राप्त होने पर सांसारिक परिस्थितियों के कारण से अनुभव द्वारा प्राप्त होने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि है।

इस प्रकार पूर्व के ३३६ भेदों में बुद्धि सम्बन्धी ये चार भेद और मिलाने पर मतिज्ञान के कुल मिला कर ३४० भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान वर्णन

श्रुतज्ञान के भेदों का वर्णन करने के पहले यदि श्रुतज्ञान सम्बन्धी कुछ मीमांसा कर ली जाय, तो वह अप्रासंगिक नहीं मानी जायगी।

यह ध्यान में रहे कि मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। क्योंकि मतिज्ञान के होने पर ही श्रुतज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। इसीलिये जैन साहित्य में प्रमाण-चर्चा के प्रसंग पर यह देखा जाता है कि श्रुतज्ञान मति-पूर्वक होता है। जिस विषय का श्रुतज्ञान करना हो, उस विषय का मतिज्ञान पहले होना अति आवश्यक और अनिवार्य है। इसीलिए कहा जाता है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान का पालक और पूरक होता है।

यह भी एक सैद्धान्तिक नियम है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान के लिये केवल बहिरंग कारण रूप ही है। अन्तरंग कारण तो वास्तव में श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही है। मान लिया जाय कि मतिज्ञान का तो अस्तित्व है, परन्तु श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है, तो ऐसी स्थिति में श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी।

भवप्रत्यय कहलाता है। देवगति और नरकगति में देवताओं को और नारक जीवों को तथा तीर्थङ्करों को उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान इसी कोटि का होता है।

(व) जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नहीं होता है, किन्तु जन्म लेने के बाद व्रत, नियम आदि गुणों सम्बन्धी सत्-क्रियाओं की जिसके लिये आवश्यकता हुआ करती है, तथा जिसमें अवधि-ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम की आवश्यकता होती है, वह अवधिज्ञान गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। मनुष्य और तिर्यञ्च को जो अवधिज्ञान होता है, वह इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। इसीका दूसरा नाम क्षयोपशम-प्रत्यय अवधिज्ञान भी है।

(२) विषयद्वार—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि इनकी विषय-मर्यादा इस प्रकार है—

(१) सातवां नरक वाले जीव जघन्य आधा कोस तक और उत्कृष्ट एक कोस तक देख सकते हैं।

(२) छट्ठी नरक वाले जीव जघन्य एक कोस तक और उत्कृष्ट डेढ़ कोस तक देख सकते हैं।

(३) पाँचवी नरक वाले जीव जघन्य डेढ़ कोस तक और उत्कृष्ट दो कोस तक देख सकते हैं।

(४) चौथी नरक वाले जीव जघन्य दो कोस तक और उत्कृष्ट ढाई कोस तक देख सकते हैं।

(५) तीसरी नरक वाले जीव जघन्य ढाई कोस तक और उत्कृष्ट तीन कोस तक देख सकते हैं।

(६) दूसरी नरक वाले जीव जघन्य तीन कोस तक और उत्कृष्ट साढ़े तीन कोस तक देख सकते हैं।

(७) पहली नरक वाले जीव जघन्य साढ़े तीन कोस तक और उत्कृष्ट चार कोस तक देख सकते हैं।

नरक के जीवों को नारकीय क्षेत्र की घोर पीड़ा का अनुभव करने से एवं परमाधामी देवताओं द्वारा पूर्व भव का वृत्तान्त बतलाने से जाति स्मरण ज्ञान की उत्पत्ति हो जाया करती है, जिससे वे पूर्वभवों की घटनाओं को जान सकते हैं।

(८) असुरकुमार देव जघन्य २५ योजन तक और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप समुद्रों तक देख सकते हैं। नवनिकाय के देव और वाणव्यंतर देव जघन्य २५ योजन तक उत्कृष्ट संख्यात द्वीप समुद्रों तक देखते हैं।

(९) ज्योतिषी देव जघन्य रूप से और उत्कृष्ट रूप से संख्यात द्वीप समुद्रों तक को देख लिया करते हैं।

(१०) वैमानिक देव ऊपर तो अपने अपने देवलोक की ध्वजा-पताका तक देखते हैं और लम्बाई चौड़ाई के लिहाज से प्रथम, द्वितीय देवलोक के पल्योपम आयुष्य वाले देवता संख्यात द्वीप समुद्रों तक देख सकते हैं।

(११) सागरोपम की आयुष्य वाले देवता असंख्यात द्वीप समुद्रों को देख सकते हैं।

(१२) नीचे के क्षेत्र की दृष्टि से प्रथम और द्वितीय देवलोक के देवता पहली नरक तक देखते हैं।

(१३) तीसरे चौथे देवलोक के देवता दूसरी नरक तक देखते हैं।

(१४) पाँचवें छट्ठे देवलोक के देवता तीसरी नरक तक देखते हैं।

(१५) सातवें आठवें देवलोक के देवता चौथी नरक तक देखते हैं।

(१६) नववें, दशवें, ग्यारह और बारहवें देवलोक के देवता पाँचवीं नरक तक देखते हैं।

(१७) नव ग्रैवेयक विमान के देवता छठी नरक तक देखते हैं।

(१८) चार अनुत्तर विमान वाले देवता सातवीं नरक तक देखते हैं।

(१९) सर्वार्थ सिद्ध विमान के देवता लोकनाल के सब से नीचे के अंतिम छोर तक अति अल्प भाग को छोड़ते हुए देख सकते हैं।

(२०) तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीव जघन्य रूप से अंगुल के संख्यातवें भाग से लगाकर उत्कृष्ट रूप से असंख्यात द्वीप समुद्रों तक देख सकते हैं।

(२१) मनुष्य जघन्य रूप से अंगुल के असंख्यातवें भाग से लगाकर उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण लोक और अलोक में लोक जैसे असंख्यात खंडों तक देख सकते हैं।

चूंकि अवधिज्ञान की विषयशक्ति रूपी पुद्गलों तक ही परिमित है और चूंकि अलोक क्षेत्र में रूपी पुद्गलों जैसी कोई

वस्तु नहीं है, फिर भी ऊपर जो अलोक-क्षेत्र में देखने की शक्ति कही गई है, वह केवल अवधिज्ञान की शक्ति-मर्यादा को समझाने के लिये बतलाया गया है।

अवधिज्ञान की काल-मर्यादा का विवेचन इस प्रकार है—

(१) जो अवधिज्ञानी क्षेत्र की अपेक्षा से अंगुल के असंख्यातवें भाग समान क्षेत्र को देखता है, वह काल की अपेक्षा से आवलिका के असंख्यातवें भाग रूप काल की बात जान सकता है।

(२) जो अवधिज्ञानी क्षेत्र की अपेक्षा से अंगुल के संख्यातवें भाग समान क्षेत्र को देखता है वह काल की अपेक्षा से आवलिका के संख्यातवें भाग रूप काल की बात जान सकता है।

(३) जो अवधिज्ञानी क्षेत्र की अपेक्षा से एक अंगुल जितने क्षेत्र तक देख सकता है, वह काल की अपेक्षा से एक आवलिका में कुछ कम समय तक की बात जान सकता है।

(४) जो प्रत्येक अंगुल क्षेत्र तक देखता है, वह पूरी आवलिका की बात जान सकता है।

(५) जो एक हाथ तक के क्षेत्र को देखता है, वह अन्तर्मुहूर्त्त तक की बात जान सकता है।

(६) जो एक धनुष्य तक के क्षेत्र को देखता है, वह प्रत्येक मुहूर्त्त तक की बात जान सकता है।

(७) जो एक कोस तक के क्षेत्र को देखता है, वह एक दिन की बात जान सकता है।

३–संठाण–(संस्थान) द्वार

अवधिज्ञानी का ज्ञान आकृति के लिहाज से किस प्रकार पना कार्य करता है, उसका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) नरक के जीव अपने अवधिज्ञान द्वारा त्रिपाई की ाकृति–अनुसार अनुभव करते हैं।

(२) भवनपति देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा पाले (टव) ी आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(३) वाण–व्यंतर देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा पडह ढोल) की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(४) ज्योतिष्क देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा झालर की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(५) बारह देवलोक के देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा मृदंग की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(६) नवग्रैवेयक देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा फूल की चंगेरी की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(७) पाँच अनुत्तर विमान के देवता अपने अवधिज्ञान द्वारा अविवाहित कन्या के स्तन की आकृति अनुसार अनुभव करते हैं।

(८) मनुष्य और तिर्यञ्चगति के प्राणी अपने अवधिज्ञान द्वारा जाली की आकृति अनुसार विविध ढंग से अनुभव करते हैं।

४—बाह्य आभ्यंतर द्वार

नारक जीवों और देवों का अवधिज्ञान आभ्यंतर रूप होता है, तिर्यञ्च प्राणियों का अवधिज्ञान बाह्य रूप होता है और मनुष्यों का अवधिज्ञान बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों प्रकार का होता है।

५—अनुगामी-अननुगामी द्वार

नारक एवं देवों के अनुगामी अवधिज्ञान होता है, जब कि तिर्यञ्च और मनुष्यों के अनुगामी तथा अननुगामी दोनों प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

६—देशप्रत्यय-सकलप्रत्यय द्वार

नारक, देव, और तिर्यञ्च जीवों का अवधिज्ञान देश-प्रत्यय रूप से होता है, जब कि मनुष्य प्राणियों का अवधिज्ञान देश-प्रत्यय और सकल प्रत्यय रूप, दोनों प्रकार से होता है।

७—हीयमान-वर्द्धमान-अवस्थित द्वार

नारक देवों का और अवधिज्ञान अवस्थित रूप होता है, जब कि मनुष्य और तिर्यञ्च में से किसी का अवधिज्ञान तो हीयमान होता है, किसी का वर्द्धमान होता है, और किसी २ का अवस्थित रूप होता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य और तिर्यञ्च जाति के जीवों में तीनों प्रकार का अवधिज्ञान पाया जाता है।

८—प्रतिपाति—अप्रतिपाति द्वार

नारक और देवों का अवधिज्ञान तो अप्रतिपाति रूप होता है, जब कि मनुष्य तिर्यञ्च प्राणियों का अवधिज्ञान प्रति-

पाति रूप भी होता है और अप्रतिपाति रूप भी होता है, याने दोनों प्रकार का अवधिज्ञान इन दोनों गतियों में (मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों में) पाया जाता है। उपरोक्त विवेचन की सामान्य मीमांसा इस प्रकार है कि अवधिज्ञान अपने गुण-पर्यायों के लिहाज से छह प्रकार का कहा गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अनुगामि, (२) अननुगामि, (३) वर्द्धमान, (४) हीयमान, (५) प्रतिपाति और (६) अप्रतिपाति।

(१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने पर भी जो अवधिज्ञान शरीर के समान साथ साथ ही रहे, वह अनुगामि अवधिज्ञान है। स्पष्टार्थ यह है कि जिस स्थान पर जिस जीव को यह अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और तदनुसार वह आत्मा उस स्थान से संख्यात अथवा असंख्यात योजन तक के क्षेत्रों को चारों ओर से जैसा देखता है, जानता है, उसी प्रकार से अन्य स्थान पर चले जाने पर भी उसी ढंग से उतने ही क्षेत्रों तक देखते रहना और जानते रहना, यही इस कोटि के अवधिज्ञान का धर्म है।

(२) यह अवधिज्ञान उपरोक्त अवधिज्ञान से सर्वथा विपरीत धर्म वाला है। जिस क्षेत्र में रहते हुए जिस प्राणी को यह उत्पन्न होता है, वह प्राणी यदि उसी क्षेत्र में रहता हो और जितने समय तक रहे उतने ही समय तक और उसी क्षेत्र में यह अवधिज्ञान अपना कार्य करता है, जब कि उस क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में चले जाने पर यह अवधिज्ञान निरर्थक-सा और कार्य शक्ति से रहित-सा हो जाता है। सारांश इतना ही है कि जिस जगह अवधिज्ञान प्रकट हुआ हो, वहाँ से उत्पन्न जाने पर

यह ज्ञान नहीं रहता है। यह ज्ञानी का अनुकरण नहीं करता है, अतएव इसका नाम 'यथा नाम तथा गुण' अनुसार 'अननुगामि' अवधिज्ञान है।

(३) जो अवधिज्ञान, परिणामों की विशुद्धता के कारण से भावों की विशुद्धि के साथ साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा पूर्वक दिन प्रतिदिन बढ़ता जाय, वह 'वर्द्धमान' अवधिज्ञान है। जैसे आग की चिनगारी ज्यों-ज्यों सूखा ईंधन मिलता जाता है त्यों-त्यों बढ़ती जाती है, वैसे ही यह अवधिज्ञान ही भावों की विशुद्धि के साथ साथ बढ़ता रहता है।

(४) जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद भावनाओं की अशुद्धि के कारण से दिन प्रति दिन घटता ही चला जाय, क्रमशः अल्प २ विषय वाला होता जाय वह 'हीयमान' अवधिज्ञान है। जैसे कि विपुल मात्रा में प्रज्वलित अग्नि इंधन के अभाव में क्रमशः बुझती २ सर्वथा विलुप्त हो जाया करती है।

(५) जैसे फूंक के आघात से दीपक तत्काल बुझ जाता है, वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद अचानक ही—एकदम ही—लुप्त हो जाय, उसे 'प्रतिपाती' अवधिज्ञान कहते हैं।

(६) जो अवधिज्ञान अपनी स्थिति की दृष्टि से उत्कृष्ट रूप होता है, केवलज्ञान की उत्पत्ति के अन्तर्मुहूर्त्त पहले जो उत्पन्न हुआ करता है, और तत्पश्चात् जो केवलज्ञान में समावि हो जाने वाला होता है, एवं जो उत्पन्न होकर लुप्त धर्म वाला नहीं होता है, वही 'अप्रतिपाति' अवधिज्ञान है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अवधिज्ञान की शक्ति इस प्रकार है:—

(१) अवधिज्ञानी कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों को जानते हैं और देखते हैं। और अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों को देखते हैं एवं जानते हैं।

(२) क्षेत्र की दृष्टि से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यों को जानते हैं और देखते हैं। इसी प्रकार उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण लोक क्षेत्र को एवं अलोक में लोक प्रमाण असंख्य खंडों जितने क्षेत्रों को देख सकते हैं, जान सकते हैं। अलोक में ज्ञानीय और ज्ञेय जैसे द्रव्यों की कोई उपलब्धि नहीं है, परन्तु फिर भी अवधिज्ञान की शक्ति को समझाने के लिये यह काल्पनिक कल्पना की जाती है।

(३) काल की दृष्टि से आवलिका के असंख्यातवें भाग से लगा कर अधिक से अधिक असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण, वर्तमान, भूत और भविष्य काल के रूपी पदार्थों को यह ज्ञान जान सकता है तथा देख सकता है।

(४) भाव की दृष्टि से अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यों की अनंतानन्त पर्यायों को जान सकते हैं, देख सकते हैं। 'अनन्त' के भी अनन्त भेद कहे गये हैं, इसलिये जघन्य अनन्त और उत्कृष्ट अनन्त में महान् अन्तर रहा हुआ है, यह नहीं भूलना चाहिये। मिथ्यादृष्टि वाले जीव का अवधिज्ञान 'विभंगज्ञान' कहलाता है। इस प्रकार अवधिज्ञान का यह सामान्य और संक्षिप्त परिचय हुआ।

मनःपर्यायज्ञान—विवेचन

मनःपर्याय ज्ञानावरण कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मा की शक्ति के आधार से ही, बिना इन्द्रियों और

मन की सहायता लिये ही; संज्ञी पंचेंद्रिय जीवों के मन की याने अन्तःकरण की बात को और विचार-धारा को जान लेने वाला ज्ञान मनःपर्यायज्ञान कहलाता है।

इसके केवल दो भेद हैं—(१) ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान और (२) विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान।

ऋजुमति विषय को सामान्य रूप से जानता है, जब कि विपुलमति उसी को विशेष रूप से जानता है। प्रथम संक्षेप से जानता है और द्वितीय विस्तार से। प्रथम विशुद्ध और सूक्ष्म है, तो दूसरा उससे अधिक विशुद्धतर है और सूक्ष्मतर है। एक स्पष्ट है तो दूसरा स्पष्टतर है। इन दोनों में उल्लेखनीय अन्तर यह भी है कि ऋजुमति उत्पन्न हो जाने के बाद नष्ट भी हो जाया करता है, जब कि विपुलमति उत्पन्न होने के बाद केवल ज्ञान की प्राप्ति तक बराबर ठहरता है, अतएव यह कर्मों के क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है, जब कि ऋजुमति क्षयोपशम होने पर भी उत्पन्न हो जाया करता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से इसकी स्थिति इस प्रकार है—

द्रव्य से—ऋजुमति मनो वर्गणा के अनन्त प्रदेश वाले अनन्त स्कन्धों को देखता है और विपुलमति इसकी अपेक्षा अधिक प्रदेशों वाले स्कन्धों को अधिक स्पष्टता से देखता है।

क्षेत्र से—तिरछी दिशा में ऋजुमति तो ढाई अंगुल कम ढाई द्वीप तक और विपुलमति पूरे ढाई द्वीप तक [illegible]

नीची दिशा में एक हजार योजन तक संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को अनुभव करते हैं।

काल से—ऋजुमति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने तीनों काल के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का अनुभव कर सकता है, और विपुल मति इसकी अपेक्षा से कुछ अधिक काल के मनोगत भावों का एवं मन द्वारा चिन्तित पदार्थों का अनुभव कर सकता है।

भाव से—ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असंख्यात पर्यायों का अनुभव करता है और विपुलमति इसकी अपेक्षा से कुछ अधिक पर्यायों का अनुभव करता है। प्रथम संक्षेप से जानता है, जब कि दूसरा विस्तार से। जैसे किसी ऋजुमति वाले ज्ञानी ने दूसरे प्राणी द्वारा चिन्तन करते हुए घड़े को जाना, तो इसमें विशेषताओं से रहित केवल घड़े का ही ज्ञान हुआ। किन्तु विपुलमति वाला इस स्थिति को विस्तारपूर्वक समझेगा, जैसे कि वह घड़ा धातु का है अथवा मिट्टी का? धातु का है तो क्या वह पीतल का है या तांबे का? क्षेत्र के विचार से क्या वह पाटलीपुत्र में निर्मित हुआ है अथवा राजगृही में? काल के विचार से वह शीत काल में बनाया गया था अथवा उष्णकाल में? भाव के विचार से वह घी को धारण करने वाला होगा अथवा दूध या दही का? इस प्रकार निश्चय रूप वाला और स्पष्ट रूप वाला विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान हुआ करता है।

जिन पवित्र आत्माओं में निम्नोक्त गुण हुआ करते हैं, उन में से भी किसी २ को ही यह ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है।

चारित्र, तप,' है, परन्तु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का कारण मुक्ति नहीं।

(३) गुण के आधार से गुणी का ज्ञान करना, धर्म स्वाभाव के आधार से धर्मी का—द्रव्य का, स्वरूप पहिचानना, 'गुणेणं' अनुमान है। जैसे कि—क्षार गुण द्वारा नमक का, गंध द्वारा फूल का, कसौटी के आधार से सोने का और स्पर्श आदि द्वारा कपड़े का, ज्ञान-शक्ति द्वारा आत्मा का, इत्यादि रूप से ज्ञान प्राप्त करना, 'गुणेणं' अनुमान है।

(४) अवयव के आधार से अथवा अंग विशेष के आधार से अवयवी का—अंगी का—ज्ञान करना, उसे पहिचान लेना, 'अवयवेणं' अनुमान है। जैसे—सींग की आकृति-विशेष द्वारा भैंस को, चित्र-विचित्र पंख द्वारा मयूर को, कलंगी द्वारा मुर्गे को दंत शूल द्वारा सूअर को, खुर द्वारा घोड़े को, नख द्वारा व्याघ्र को, केश समूह द्वारा केशरी सिंह को, सूंड द्वारा हाथी को, पूंछ विशेष द्वारा चंवरी गाय को, दो पद द्वारा मनुष्य को, चार पद द्वारा पशु को, अनेक पग आकृति द्वारा गजाई-प्राणी विशेष को, कंकण के आधार से अविवाहित कन्या को, कंचुकी के आधार से विवाहित स्त्री को, शस्त्र द्वारा सुभट को, काव्यालंकार-युक्त वाणी द्वारा पंडित को, पकते हुए अन्न में से एक कण को निकाल कर उसके आधार से अन्न की पक्व स्थिति को; इत्यादि रूप से ज्ञान प्राप्त करना 'अवयवेणं अनुमान प्रमाण' है।

(५) 'आश्रय-आश्रयी' 'सम्बन्ध-सम्बन्धी' के आधार से अनुमान लगाकर ज्ञान प्राप्त करना, 'आसएणं' अनुमान है। जैसे कि—धुएं के आधार से अग्नि को जान लेना, बादल के

आधार से मेघ को जानना; बगुला आदि सरोवरप्रिय जानवरों के आधार से तालाब के अस्तित्व का ज्ञान करना; उत्तम आचरण के आधार से सुशील को समझ लेना; इस प्रकार आश्रय के आधार से आश्रयी का ज्ञान करना; "आसएणं अनुमान" है।

(३) दिट्ठिसामं नामक अनुमान प्रमाण के दो भेद हैं:—सामान्य रूप और विशेष रूप।

जातिगत सामान्य धर्म के आधार से एक व्यक्ति को—अथवा एक पदार्थ को देखकर संपूर्ण जाति को याने उस संपूर्ण वर्ग को जान लेना, उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना, "सामान्य दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है। जैसे कि—एक रुपये को देखकर सभी रुपयों का स्वरूप समझ लेना, एक मारवाड़ी बैल को देख करके सभी मारवाड़ी बैलों की स्थिति समझ लेना, किसी भी प्रान्त अथवा देश विशेष के एक निवासी को देख करके शेष सभी पुरुषों के स्वरूप को समझ लेना, एक सम्यक् दृष्टि शील पुरुष के आचरण को देख करके शेष सभी सम्यक् दृष्टि शील पुरुषों के आचरणों का स्वरूप समझ लेना, "सामान्य दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है।

विशेष एवं विलक्षण कारणों को देखकर किसी खास परिस्थिति का अथवा पदार्थ का ज्ञान कर लेना, "विशेष दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है। जैसे कि—किसी प्रतिभा संपन्न एवं विचक्षण दृष्टिशील मुनिराज ने विहार (करते करते) मार्ग में बहुत परिणाम में उगी हुई घास देखी, कुप-बावड़ी पानी से भरे हुए देखे, बाग बगीचे हरे-हरे देखे, इत्यादि कारणों से

चारित्र, तप,' है, परन्तु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का कारण मुक्ति नहीं।

(३) गुण के आधार से गुणी का ज्ञान करना, धर्म स्वाभाव के आधार से धर्मी का—द्रव्य का, स्वरूप पहिचानना, 'गुणेणं' अनुमान है। जैसे कि—क्षार गुण द्वारा नमक का, गंध द्वारा फूल का, कसौटी के आधार से सोने का और स्पर्श आदि द्वारा कपड़े का, ज्ञान-शक्ति द्वारा आत्मा का, इत्यादि रूप से ज्ञान प्राप्त करना, 'गुणेणं' अनुमान है।

(४) अवयव के आधार से अथवा अंग विशेष के आधार से अवयवी का—अंगी का—ज्ञान करना, उसे पहिचान लेना, 'अवयवेणं' अनुमान है। जैसे—सींग की आकृति-विशेष द्वारा भैंस को, चित्र-विचित्र पंख द्वारा मयूर को, कलंगी द्वारा मुर्गे को दंत शूल द्वारा सूअर को, खुर द्वारा घोड़े को, नख द्वारा व्याघ्र को, केश समूह द्वारा केशरी सिंह को, सूंड द्वारा हाथी को, पूंछ विशेष द्वारा चंवरी गाय को, दो पद द्वारा मनुष्य को, चार पद द्वारा पशु को, अनेक पग आकृति द्वारा गजाई-प्राणी विशेष को, कंकण के आधार से अविवाहित कन्या को, कंचुकी के आधार से विवाहित स्त्री को, शस्त्र द्वारा सुभट को, काव्यालंकार-युक्त वाणी द्वारा पंडित को, पकते हुए अन्न में से एक कण को निकाल कर उसके आधार से अन्न की पक्व स्थिति को; इत्यादि रूप से ज्ञान प्राप्त करना 'अवयवेणं अनुमान प्रमाण' है।

(५) 'आश्रय-आश्रयी' 'सम्बन्ध-सम्बन्धी' के आधार से अनुमान लगाकर ज्ञान प्राप्त करना, 'आसएणं' अनुमान है। जैसे कि—धुंए के आधार से अग्नि का ज्ञान करना, बादल के

आधार से मेघ को जानना; बगुला आदि सरोवरप्रिय जानवरों के आधार से तालाब के अस्तित्व का ज्ञान करना; उत्तम आचरण के आधार से सुशील को समझ लेना; इस प्रकार आश्रय-आश्रयी का ज्ञान करना; "आसएणं अनुमान" है।

(३) दिट्ठिसामं नामक अनुमान प्रमाण के दो भेद हैं:—सामान्य रूप और विशेष रूप।

जातिगत सामान्य धर्म के आधार से एक व्यक्ति को—अथवा एक पदार्थ को देखकर संपूर्ण जाति को याने उस संपूर्ण वर्ग को जान लेना, उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना, "सामान्य दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है। जैसे कि—एक रुपये को देखकर सभी रुपयों का स्वरूप समझ लेना, एक मारवाड़ी बैल को देख करके सभी मारवाड़ी बैलों की स्थिति समझ लेना, किसी भी प्रान्त अथवा देश विशेष के एक निवासी को देख करके शेष सभी पुरुषों के स्वरूप को समझ लेना, एक सम्यक् दृष्टि शील पुरुष के आचरण को देख करके शेष सभी सम्यक् दृष्टि शील पुरुषों के आचरणों का स्वरूप समझ लेना, "सामान्य दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है।

विशेष एवं विलक्षण कारणों को देखकर किसी खास परिस्थिति का अथवा पदार्थ का ज्ञान कर लेना, "विशेष दिट्ठिसामं" नामक अनुमान प्रमाण है। जैसे कि—किसी प्रतिभा संपन्न एवं विचक्षण दृष्टिशील मुनिराज ने विहार (करते करते) मार्ग में बहुत परिणाम में उगी हुई घास देखी, कुए-बावड़ी पानी से भरे हुए देखे, बाग बगीचे हरे-हरे देखे, इत्यादि कारणों से

उन्होंने अनुमान लगाया कि गत काल में यहां पर बहुत अच्छी वर्षा हुई है। आगे बढ़ने पर एक ग्राम दिखाई दिया, ग्राम था तो छोटा ही, श्रावकों के घर भी थोड़े, घरों में सामग्री थोड़ी ही, फिर भी श्रावक-श्राविकाओं की भक्ति भावों से परिपूर्ण थी, भावनाएँ उदार थीं, दान देते समय उत्कृष्ट भाव रखने वाले थे, इन घटनाओं को देख करके उन्होंने अनुमान लगाया कि वर्त्तमान में इनका कुछ अच्छा होना दिखाई देता है। कुछ और आगे बढ़े तो मुनिराज श्री जी को पहाड़-पर्वत मनोहर दिखाई दिये, प्रतिकूल एवं हानिप्रद हवा का अभाव देखा, तारा टूटना अथवा उल्कापात होना जैसी अशुभ घटनाएँ नहीं दिखाई दीं, ग्राम के बाहर और भीतर मनोहरता दृष्टिगोचर हुई, इन परिस्थितियों के आधार से अनुमान लगाया कि भविष्यत् काल में यहां पर अच्छा होना प्रतीत होता है। उपरोक्त दृष्टान्त को शुभ-कारणों के आधार से कहा गया है, अब अशुभ कारणों के आश्रय से होने वाले अनुमान का स्थूल स्वरूप बतलाया जाता है:—

कल्पना करें कि किसी विचारशील एवं चारित्र-संपन्न मुनिराज ने विहार-मार्ग में देखा कि—भूमि घास-रहित है, बाग-बगीचे सूखे हैं, कूए-बावड़ी जल रहित हैं, तब अनुमान उत्पन्न हुआ कि यहां पर भूतकाल में वर्षा बहुत ही थोड़ी हुई है। आगे बढ़ने पर ग्राम में जाकर देखा तो मालूम हुआ कि ग्राम बड़ा है, श्रावकों के भी अनेक घर हैं, घरों में सामग्री भी विपुल मात्रा में है, परन्तु श्रावक-श्राविकाएँ अभिमानी, विनय-रहित, कंजूस और दान-भावनाओं से रहित प्रतीत हुई, इस पर से

अनुमान उत्पन्न हुआ कि वर्त्तमान काल में यहां पर कुछ न कुछ अशुभ होने वाला दिखाई देता है। जब कुछ और आगे बढ़े तो मुनिराज श्री जी को ग्राम के भीतर और बाहिर अरमणीयता प्रतीत हुई, "धरती कंपन, तारा टूटना, बिजली चमकना" आदि घटनाएं देखीं, इन परिस्थितियों के आधार से अनुमान किया कि भविष्यत्-काल में यहां पर कुछ न कुछ अशुभ होता हुआ दिखाई देता है। यह अनुमान अशुभ-परिस्थितियों के आश्रय से उत्पन्न होने वाला समझना चाहिये।

आगम–प्रमाण

आगम प्रमाण के ३ भेद हैं:—(१) सुत्तागम, (२) अत्थागम और (३) तदुभयागम।

(१) श्री जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित और श्री गणधर महाराज एवं श्री पूर्वधर ऋषि मुनिराजों द्वारा संग्रंथित द्वादशांगी रूप सूत्र एवं इसी कोटि के ग्रन्थ ही "सुत्तागम" नामक आगम प्रमाण कहे जाते हैं।

(२) उक्त सूत्र-ग्रंथों के अनुसार ही सर्व-साधारण के लिये बनाये गये उपयोगी अर्थ-बोधक ग्रंथ, सूत्र के अनुसार ही तात्पर्य को समझाने वाले टीका-व्याख्या-भाष्य-निर्युक्ति-चूर्णि के रूप में कहे जाने वाले ग्रंथ और इस संबंधी साहित्य "अत्थागम" नामक आगम प्रमाण है।

(३) उपरोक्त दोनों गुणों से सम्मिलित साहित्य, मूल और अर्थात्मक ग्रंथ, इस प्रकार सूत्र और अर्थ, तथा दोनों से

घोड़े के सींग कैसे ? उत्तर—गधे के सींग जैसे। गधे के सींग कैसे ? उत्तर—घोड़े के सींग जैसे।

इस प्रकार का वर्णन चौथा भंग है।
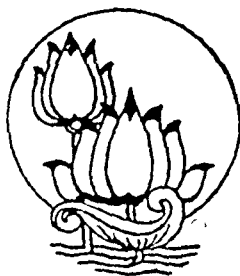
गुण-गुणी द्वार
दसवाँ द्वार

प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण-स्वभाव-धर्म वाला है। जैसे कि घड़े में रूप है, रस है, गंध है, स्पर्श है, पर्यायों के परिवर्तन का स्वभाव है, अनित्य है, क्षयरूप है, द्रव्य दृष्टि से नित्य शीलता भी है, ज्ञेय धर्म भी है। इत्यादि अनेक गुणों का पुञ्ज है। आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, तप है, बल है, असंख्यात प्रदेशशीलता है, जन्म-मरण रूप सांसारिक पर्याएँ हैं, अरस, अगंध, अस्पर्श, आदि धर्म हैं, इत्यादि अनेक गुणों का अस्तित्व है।

जिन तत्त्वों से द्रव्य का निर्माण हुआ है, जो तत्त्व द्रव्य के अभिन्न अंग हैं, जिनके आधार से ही द्रव्य का द्रव्यत्व कायम है, जो त्रिकाल में भी द्रव्य से अलग नहीं होते हैं, द्रव्य के जिन तत्त्वों में ही पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश हुआ करता है, इस प्रकार द्रव्य के जो मूल लक्षण रूप हैं, वे गुण कहलाते हैं।

इन गुणों को धारण करने वाला ही गुणी कहलाता है।

गुणी का ही दूसरा नाम द्रव्य है। क्योंकि गुण और इन गुणों में होने वाली पर्यायें द्रव्य के ही अभिन्न अंग हैं। प्रत्येक गुणी रूप द्रव्य पर्यायशील स्वभाव वाला होने के कारण से हर समय में और हर क्षण में संयोगानुसार भिन्न भिन्न पर्यायों में रूपान्तर वाला अथवा पर्यायान्तर वाला होता रहता है। अनेकानेक पर्यायों को धारण करता रहता है। इस प्रकार गुणी रूप द्रव्य में जो परिवर्तन होने की शक्ति-विशेष रही हुई है, वही गुण है। गुणों के परिवर्तन का ही नाम पर्याय है। इस प्रकार गुण कारण है और पर्याय ही उसका कार्य है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण स्वभावतः रहे हुए हैं, जो कि द्रव्य से अविभाज्य हैं। इन्हीं गुणों में तीनों कालों में पर्यायों का उत्पादन और विनाश क्रमशः निरन्तर होता रहता है। किन्तु फिर भी द्रव्य का द्रव्यत्व अथवा गुणी का गुणत्व ध्रौव्य रूप से,—मूल रूप से—कायम रहता है, अतएव गुणी उत्पात रूप भी है, विनाश रूप भी है और ध्रौव्य रूप भी है। इस प्रकार प्रवाह की अपेक्षा से पर्यायें अनादि अनन्त रूप होती हुई भी सादिसान्त हैं। एवं गुणी रूप द्रव्य भी पर्यायों की अपेक्षा से सादिसान्त होता हुआ भी मूल-स्थिति की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है।

अनंत गुणों का अखंड और अविभाज्य एक समूह ही गुणी रूप द्रव्य पदार्थ है। छद्मस्थ आत्माओं की ज्ञान-शक्ति परिमित और अल्प होती है, इसी लिये वे अनन्त गुण हमारी समझ के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं। केवल अति सामान्य गुण ही, जैसे कि चेतन, आनन्द आदि ही समझ में आते हैं। इसी प्रकार पुद्गल गुणी रूप द्रव्य के भी अनंत गुण होने पर भी

केवल रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि कुछ ही गुण समझ में आते हैं। इस पद्धति से गुणों के मूल रूप से दो भेद होगये हैं:— (१) बुद्धिगम्य और (२) बुद्धि से अगम्य। बुद्धि गम्य गुण मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान द्वारा ज्ञेय हैं और बुद्धि से अगम्य गुण अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान द्वारा ज्ञेय होते हैं। द्रव्य के कई एक गुण तो ऐसे हैं, जोकि केवल—केवल ज्ञान द्वारा ही जाने जा सकते हैं, वे गुण केवलिगम्य गुण कहलाते हैं। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य याने गुणी पदार्थ अनन्त पर्यायों वाला है, इस प्रकार हर समय में गुणी पदार्थ में गुणों की पर्यायों के लिहाज से अनन्त पर्यायों का प्रवाह चलता रहता है। यों प्रत्येक गुण की अपनी अपनी पर्यायें "सजातीय पर्यायें" कहलाती हैं और सहयोगी एवं सहचारी गुणों की पर्यायें परस्पर में "विजातीय-पर्यायें" कहलाती हैं। जैसे कि—ज्ञान की पर्यायें अपने मूल कारण रूप ज्ञान के लिहाज से "सजातीय पर्यायें" हैं और चारित्र एवं आनंद की पर्यायें सहयोगी एवं सहचारी होने पर भी भिन्न गुण पर्यायें होने के कारण से "विजातीय पर्यायें" कहलाती हैं।

अनेक गुण ऐसे भी हैं, जोकि सभी द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं, जैसे कि—"अस्तित्व, प्रदेशवत्त्व, ज्ञेयत्व," आदि। फिर भी अपने अपने असाधारण गुणों के कारण से प्रत्येक द्रव्य अनादि रूप है और अक्षय एवं अनन्त रूप है। और इसी कारण से प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व एवं ज्ञेयत्व गुण रहा हुआ है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय

रूप द्रव्यों का भी गुण-गुणी के रूप में इसी पद्धति से विचार कर लेना चाहिये।

इन छह ही द्रव्यों में केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्त रूप है, इसलिये इसके गुण गुरु लघु रूप होते हैं, और इसकी पर्यायें भी गुरु लघु रूप होती हैं, किन्तु बाकी के पाँच द्रव्य अथवा गुणी पदार्थ अमूर्त होते हैं, इसी कारण से उनके गुण और उनकी पर्यायें भी अगुरु और अलघु रूप होती हैं।

सामान्य और विशेष

ग्यारहवाँ द्वार

एक से अधिक पदार्थों में पाये जाने वाले तुल्य स्वरूप का नाम "सामान्य धर्म" है। जैसे नरक शब्द द्वारा सातों नरकों का ज्ञान हो जाता है। तिर्यंच शब्द द्वारा एकेन्द्रिय प्राणी से लगाकर पंचेन्द्रिय प्राणी तक का बोध हो जाता है।

सामान्य दो प्रकार का है:—(१) तिर्यक् सामान्य और (२) ऊर्ध्वता सामान्य।

अनेक पदार्थों की पारस्परिक दृष्टिकोण से एक सरीखी समानता ही तिर्यक् सामान्य है। जैसे—काली, पीली, सफेद आदि विभिन्न रंग वाली गायों में "गायत्व" याने "गोपना" यही तिर्यक् सामान्य है। कडुआ, मीठा, तीखा, कसायला आदि स्वादों में "रस धर्म" तिर्यक् सामान्य है।

पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी सभी पर्यायों में मूल धर्म की स्थिति "मोतियों की माला में सूत के समान" ज्यों की त्यों पाई जाना ही, ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे कि सोने के

कड़े को तुड़ाकर उसका कंकण बनाने पर भी सोना कड़े के समान ही कंकण में भी मौजूद है ही। बाल, युवा, वृद्ध होने पर भी "मनुष्य पर्याय" तीनों में पाई जाती है। इस प्रकार इस दृष्टान्त में "मनुष्य पर्याय" ही ऊर्ध्वता सामान्य है।

जिसके कारण से अनेक पदार्थों में परस्पर में भिन्नता, असाधारणता, विलक्षणता पाई जाय, वही "विशेष-धर्म" है। जैसे कि आत्मा में ज्ञान-उपयोग की विशेषता है, पुद्गलों में जड़-धर्म की विशेषता है। आकाश में अवकाश-जगह देने की विशेषता है। पशु चार पैर वाला है और मनुष्य दो पैर वाला, इत्यादि पारस्परिक भिन्नता ही इनकी विशेषता है।

विशेष के भी दो भेद हैं:—(१) गुण और (२) पर्याय।

सहभावी धर्म ही,—साथ साथ में रहने वाला धर्म ही गुण कहलाता है। जैसे कि अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता, किरण में प्रकाश-शीलता, आत्मा में ज्ञान-शीलता, आदि। पदार्थ में क्रम से परिवर्तन होते रहने के कारण से उत्पन्न होने वाली अवस्था ही,—विशेपता ही—पर्याय-धर्म है। जैसे कि— आत्मा में सुख-दुःख होना। अग्नि में उष्णता की हानि-वृद्धि होना।

विषय विवेचन की दृष्टि से किसी भी विषय का केवल नाम-निर्देश करना, सामान्य कथन है, और विस्तारपूर्वक विवेचन करना, विशेष कथन है।

"नरक" शब्द का कथन करना सामान्य विवेचन है,

और रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि नरक के सातों भेदों का कथन करना, ४२ आंतरे, ४६ पाथड़े तथा ८४ लाख नरक आवास इत्यादि रूप से नरक का विस्तार पूर्वक विवेचन करना, विशेष कथन है।

"देवता" शब्द कहना सामान्य विवेचन है, और भवन-पति, वाण व्यंतर, ज्योतिषी, आदि भेदों का उल्लेख करना, विशेष कथन है। यों ही सभी बातों के संबंध में समझ लेना चाहिये।

ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञानी

बारहवाँ द्वार

ज्ञान का विषय ही ज्ञेय है। जो कुछ ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है, वह ज्ञेय कहलाता है। छह ही द्रव्य, अखंड लोक और पूर्ण लोक में पाई जाने वाली सभी वस्तुएँ और उन वस्तुओं की तीनों कालों में उत्पन्न होने वाली सभी पर्यायें एवं पर्यायों के सभी अंश "ज्ञेय" कहलाते हैं। इस प्रकार ज्ञेय धर्म के अन्तर्गत सभी रूपी और अरूपी पदार्थ-द्रव्य, जड़ और चेतन द्रव्य, सब कुछ आ जाता है। कोई भी द्रव्य, द्रव्य की कोई भी पर्याय, और पर्याय का कोई भी भाग "ज्ञेय" धर्म के बाहिर नहीं है। यदि "ज्ञेय" के बाहिर किसी भी पदार्थ को अथवा वस्तु को माना जायगा तो उस पदार्थ का "पदार्थपना" ही, और वस्तु का "वस्तुपना" ही नष्ट हो जायगा। प्रत्येक आत्मा में अनुभव करने की जो शक्ति रही हुई है, जो अनुभूति-शक्ति, संवेदन-शक्ति रही हुई है, उसी का नाम "ज्ञान" है। यही चेतन तत्त्व का असाधारण धर्म है। इसी के बल पर "जीवास्तिकाय द्रव्य का अस्तित्व कायम है। ज्ञानी और ज्ञाता पर्यायवाची शब्द हैं। ज्ञान को धारण करने वाला द्रव्य

ही ज्ञानी अथवा ज्ञाता कहा जाता है। द्रव्यों के स्वरूप को जानने की शक्ति रखने वाला तत्त्व ही ज्ञानी अथवा ज्ञाता है।

इसी बोल के अन्तर्गत "ध्येय, ध्यान, और ध्यानी" का उल्लेख भी देखा जाता है। जिस वस्तु-तत्त्व का चिंतन, मनन, और स्मरण किया जाय, वही ध्येय कहलाता है। वस्तु-तत्त्व का चिंतन, मनन, और स्मरण करने का सुव्यवस्थित प्रयास ही ध्यान है।

वस्तु-तत्त्व का सुव्यवस्थित रीति से चिंतन-मनन-स्मरण करने वाली सात्त्विक आत्मा ही "ध्यानी" है। ध्यानी और ध्याता पर्यायवाची शब्द ही हैं।

उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य
तेरहवां द्वार

उत्पाद का सामान्य अर्थ उत्पन्न होना, व्यय का अर्थ नाश होना और ध्रौव्य का अर्थ अनेक पर्यायों के उत्पन्न और नाश होने पर भी मूलस्वरूप की दृष्टि से तथा सत्ता याने अस्तित्व की दृष्टि से कायम रहना, मौजूद रहना। यही ध्रौव्य है। लोक के सभी द्रव्यों में ये तीनों अवस्थाएँ समान रूप से पाई जाती हैं। जैन दर्शन सभी पदार्थों को परिणामी-नित्य मानता है। परिणामी से तात्पर्य है:—पर्यायों का उत्पाद-व्यय होते रहने पर भी कोई भी पदार्थ सत्ता की दृष्टि से अनित्य नहीं है। नष्ट हो जाने वाला नहीं है। प्रत्येक वस्तु की स्थिति नित्या-नित्य रूप है, एक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु तीनों कालों में अक्षय है,—शाश्वत है। और दूसरी दृष्टि से वही वस्तु प्रत्येक क्षण में—विनाश रूप भी है और उत्पत्ति रूप भी है। किसी एक ही दृष्टि से देखने पर वस्तु केवल नाश रूप अथवा स्थिर रूप ही दिखाई देगी, और ऐसी स्थिति में "वस्तु का पूरा पूरा ज्ञान हो गया है" ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि एक दृष्टि से केवल एक अंश ही दिखाई देगा, न कि वस्तु का पूर्ण रूप। इसलिये जैन दर्शन सभी पदार्थों को "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य" रूप मानता है।

जैन तीर्थंकरों ने और पूज्य भगवान अरिहंतों ने इसी सिद्धान्त को "*उप्पन्ने वा, विगए वा, धुवे वा*" इन तीन शब्दों द्वारा "त्रिपदी" के रूप में संग्रहित कर दिया है। इस त्रिपदी का जैन-आगमों में इतना अधिक महत्त्व और इसकी सर्वोच्च-शीलता बतलाई है कि इनके श्रवण मात्र से ही गणधरों को चौदह पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशांगी रूप वीतरागवाणी का यह हृदय-स्थान कहा जाता है। भारतीय साहित्य के सूत्र-युग में निर्मित महान् ग्रंथ तत्त्वार्थ-सूत्र में इसी सिद्धान्त का "*उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्*" इस सूत्र से उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् यानी द्रव्य रूप अथवा भाव रूप है, उसमें प्रत्येक क्षण नवीन नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती रहती है, एवं पूर्व पर्यायों का नाश होता रहता है, परन्तु फिर भी मूल द्रव्य की द्रव्यता अर्थात मूल सत् की सत्ता पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्य रूप से बराबर कायम रहती है। विश्व का कोई भी पदार्थ इस स्थिति से वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्य के मध्यमयुग में तर्क जाल से संगुफित घनघोरशास्त्रार्थ रूप संघर्षमय समय में जैन साहित्यकारों ने इसी सिद्धान्त को "स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, और स्यात् अवक्तव्यं" इन तीन शब्द समूह के आधार पर सप्तभंगी के रूप में संस्थापित किया है।

इस प्रकारः—

(१) "उप्पन्ने वा, विगए वा, धुवे वा" नामक अरिहंत प्रवचन,

तात्पर्य है:—दिखलाई पड़ने वाली वस्तु का लोप हो जाना नवीन पर्याय का प्रकट होना और मौजूदा पर्याय का विना होना, इस स्थिति को समझाने के लिये "आविर्भाव एवं तिरे भाव" शब्दों की रचना की गई है। घास रूप पदार्थ की गाय संयोग से दूध के रूप में परिणति होना, दूध से मक्खन, औ मक्खन से घी का निर्माण होना, ऐसा पर्याय परिवर्तन "आविर्भाव-तिरोभाव" कहलाता है।

मुख्यता और गौणता

सोलहवाँ द्वार

प्रत्येक पदार्थ अनेक गुण-धर्म वाला है, उनमें से किसी भी एक गुण का उल्लेख करते समय अन्य गुणों पर तटस्थ-भावना अथवा उदासीन-भावना रखना ही "मुख्यता-गौणता" नामक शैली कही जाती है। उल्लेख किया जाने वाला गुण "मुख्यता धर्म वाला" कहा जायगा और तटस्थ भावना वाले गुण "गौण-धर्म वाले" कहे जाएँगे। जैसे कि—घड़ा काला है, इस कथन में घड़े में रूप, रस, गंध, स्पर्श, अनित्यत्व, ज्ञेयत्व, स्थूलत्व, देश-पुद्गलत्व आदि अनेकानेक धर्मों के रहते हुए भी केवल "— इतना ही उल्लेख किया गया है। तदनुसार यहां पर "काले रंग" की मुख्यता है और शेष धर्मों का गौणता है। यों ही अन्य द्रव्यों में भी समझ लेना चाहिए।

उत्सर्ग और अपवाद

सत्रहवाँ द्वार

जिस महान् साधना में किसी भी प्रकार की छूट, सुविधा, रियायत, अथवा नरमी का आदेश न हो, महान् से महान् कष्ट, परिषह, उपसर्ग, बाधा कठिनाई और संकट उपस्थित होने पर भी केवल सहिष्णु बन कर एवं उसके निवारण के लिये किसी भी प्रकार का उपचार या प्रयत्न नहीं करते हुए अडिग भावना के साथ साधना में पूर्णतया संलग्न रहना, ध्यान अवस्था को अवस्थित रखना, परिणामों की धारा को वृद्धिगत रखना, तथा किसी भी प्रकार के दोष से दूर रहते हुए आत्म-कल्याण रूप प्रवृत्ति में ही सतत जुड़े रहना, यही आदर्श उत्सर्ग मार्ग है। जिस साधन मार्ग में आत्मा, मन, और शरीर की कमजोरी के कारण से व्रत-पालन में मर्यादित छूट हो, कर्मोदय की प्रबलता से व्रत-पालन में बाधा, संकट, कष्ट, उपसर्ग, परिषह आदि प्राकृतिक एवं अन्य कठिनाइयों के उपस्थित होने पर विवशतावश उनका उपचार करने की भावना हो, ध्यान-स्थिति में तथा परिणामों की धारा में हानि-वृद्धि होती रहती हो, ऐसा धार्मिक-साधना-मार्ग अपवाद मार्ग कहलाता है।

उत्सर्ग में तीन गुप्ति हैं और अपवाद में पांच समितियां हैं।

उत्सर्ग मार्ग का साधक साधु रोग-परिषह के उत्पन्न होने पर भी उसको समभाव पूर्वक सहता है, परन्तु औषधि नहीं करता है। जब कि अपवाद मार्ग का अनुयायी रोग से असमाधि का अनुभव करता है तथा चित्त में व्याकुलता एवं खेद अनुभव करता है और ज्ञान-ध्यान में अन्तराय देखता है, तो ऐसी स्थिति में वह समाधि के लिये निरवद्य-औषधि-उपचार करता है।

इस प्रकार उत्सर्ग-मार्ग और अपवाद मार्ग की सूक्ष्मता समझ लेनी चाहिये।

आत्मा तीन

स्व-आत्मा, पर-आत्मा और परमात्मा

अठारहवां द्वार

अपनी आत्मा ही स्व-आत्मा है, दूसरों की आत्मा ही पर-आत्मा है और अरिहंत-सिद्ध प्रभु ही परम आत्मा हैं।

दोहा:— निजात्मा का दमन कर, परआत्मा को चीन।
परमात्मा का भजन कर, यही मत है प्रवीन॥

आत्मा की अवस्था यानि—स्थिति की दृष्टि से तीन भेद और किये गये हैं—बाह्य-आत्मा, आभ्यंतर-आत्मा और परमात्मा।

ये तीन भेद आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति और अवनति के दृष्टिकोण से किये गये हैं। आत्मा उन्नत है अथवा अवनत? विकासशील है अथवा अविकासशील? सम्यक्त्वी है अथवा मिथ्यात्वी? सद्गुणशील है अथवा दुर्गुणशील? उत्थान की ओर है अथवा पतन की ओर? इस स्थिति को

अजर हूँ, अमर हूँ, व्रत, त्याग, नियम, संयम, ध्यान और प्रत्याख्यान ही मेरे लिये साधना रूप हैं। "गुणों की आराधना करना और कर्मों का चय करके आत्यंतिक निर्मलता प्राप्त करना" यही मेरे लिये सर्वोच्च और अंतिम ध्येय है। यह शरीर और मैं इसी प्रकार अलग अलग हैं, जैसे कि तिलहन से तेल, दूध से घी, मिट्टी से धातु, फूल से गंध, इत्यादि एक दूसरे से अलग अलग हैं।" इस प्रकार की पद्धति द्वारा शरीर, कुटुम्ब और बाह्य मनोरम पुद्गलों में ऐसी आत्मा न तो आसक्त होती है और इन्हें अपना भी नहीं मानती है। सम्यक्त्वी की, श्रावक की और साधु की आत्मा "आभ्यंतर आत्मा" कही जाती है। क्योंकि ये आत्माएँ "साधना-मार्ग" पर चलने वाली कही जाती हैं। ऐसी आत्माएँ चौथे गुण स्थान से लगा कर ग्यारहवें गुण स्थान तक की स्थिति वाली हुआ करती हैं।

"आभ्यंतर-आत्मा" की स्थिति आध्यात्मिक दृष्टि से वास्तविक विकास की ओर ही हुआ करती है। सर्व सद्गुणों का और भक्ति पूर्ण भावनाओं का सुन्दर संयोग इसी आदर्श अवस्था में हुआ करता है। इसे ही मुमुक्ष-अवस्था कहते हैं। भक्त और ज्ञानी इसी "आभ्यंतर-आत्म अवस्था" की आकांक्षा किया करते हैं। परमात्मपद प्राप्ति का यह मूल आधार और प्रथम पद है। इसी के बल पर "निजात्म स्वरूप केवल ज्ञान" की प्राप्ति हुआ करती है। जो कि आत्मा के परिपूर्ण विकास की प्रथम श्रेणी है। इस प्रकार यहाँ "अन्तर-आत्मा" अथवा "आभ्यंतर-आत्मा" की सामान्य व्याख्या है।

(३) "परमात्मा" नामक आत्म-स्थिति में आत्मा अपने

(४) रूपातीत ध्यान—सिद्ध भगवान् के स्वरूप का और उनके अनन्त एवं महान् मौलिक गुणों का सूक्ष्मरीत्या ध्यान करना, मनन करना, और चिन्तन करना।

ध्यान के प्रमुख रूप से चार भेद और भी हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

(१) अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसको दूर हटाने के लिये की जाने वाली व्यग्रतापूर्वक चिन्ता, दुःख-कष्ट के आ पड़ने पर उसका निवारण करने के लिये की जाने वाली खेद पूर्वक चिन्ता, प्रिय वस्तु के वियोग हो जाने पर उसको प्राप्त करने के लिये की जाने वाली लालसा-तृष्णामय चिन्ता, और भोग की भावना की तृप्ति के लिये प्राप्त न हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये की जाने वाली संकल्प-विकल्पमय चिन्ता यह सब मानसिक कुप्रवृत्ति "आर्तध्यान" है। ऊपर लिखी हुई चारों प्रकार की चिन्ताओं के नाम क्रम से इस प्रकार हैं:—(१) अनिष्ट संयोग आर्तध्यान, (२) इष्ट वियोग आर्तध्यान, (३) रोग-चिन्ता आर्तध्यान, और (४) निदान आर्तध्यान।

आर्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं:—

(१) आक्रंदन करना, (२) शोक करना, (३) रुदन करना, और (४) विलापात करना।

प्रथम गुण-स्थान से लगाकर पांचवें गुणस्थान तक की स्थिति में रहने वाले जीवों में आर्तध्यान के उक्त चारों भेद पाये

जाते हैं, और छट्ठे गुणस्थान वर्त्ती जीवों में आर्तध्यान के प्रथम तीन भेद ही पाये जाते हैं, चौथा भेद रूप आर्तध्यान इस गुण स्थान के जीवों में नहीं पाया जाता है। यदि आत्मा को छट्ठे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में बढ़ना हो तो आर्तध्यान का सर्वथा परित्याग कर चुकने पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। अन्यथा नहीं।

(२) हिंसा के अनुबन्ध से, झूठ के अनुबन्ध से, चोरी के अनुबन्ध से और भोगोपभोग रूप विषयों के रक्षण के अनुबन्ध से जो क्रूरतामय कुत्सित चिंता उत्पन्न हुआ करती है, उसी का नाम रौद्रध्यान है। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, और परिग्रह आदि रूप पाप-प्रवृत्तियों से हृदय में क्रूरता और कठोरता उत्पन्न हुआ करती है, और इस कारण से जो हृदय हीनता सूचक एवं नृशंसता उत्पादक चिन्ता उत्पन्न हुआ करती है, उसी को क्रम से हिंसानुबंधी रौद्रध्यान, असत्यानुबंधी रौद्र ध्यान, स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान और विषय संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान कहा जाता है।

रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं:—(१) किसी पर भी अकारण ही अल्पदोष लगाना, (२) किसी पर भी अकारण ही बहु दोष लगाना, (३) अज्ञानता रखना, और (४) मृत्यु-पर्यंत पाप का प्रायश्चित नहीं करना।

रौद्रध्यान की स्थिति पांचवें गुणस्थान तक ही बतलाई गई है, आगे के गुण स्थानों में इसका अभाव हुआ करता है।

(३) आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, और

संस्थान-विचय, इनकी सूक्ष्म विचारणा के लिये मनोवृत्ति को निष्ठा पूर्वक एकाग्र करना, यही धर्म ध्यान है।

(अ) वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की क्या आज्ञा है ? उसका विधि-निषेध रूप स्वरूप क्या है ? इस प्रकार उन आदर्श सिद्धान्तों का मनोयोग पूर्वक अनुसंधान करना, उनका चिन्तन तथा मनन करना, एवं उन उपदेशों के प्रति अपनी आत्मा को इस प्रकार संबोधित करना कि—"अरे जीव ! शुद्ध सम्यक्त्व पूर्वक श्रावक धर्म के बारह व्रतों के और ग्यारह पड़िमाओं के पालन करने की ओर प्रवृत्तिशील हो, साधु-धर्म के पाँच महा व्रतों और बारह पड़िमाओं की ओर प्रगति कर, छह काया के जीवों का संरक्षण कर, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप तीन रत्नों की आराधना कर, चारों तीर्थों का गुणानुवाद कर, भगवान् की आज्ञा की आराधना करने में और उसका पालन करने में किंचित् मात्र भी प्रमाद मत कर।" ऐसी मनोयोग पूर्वक चित्त वृत्ति ही "आज्ञा-विचय" नामक धर्म ध्यान है।

(आ) पाप दोषों का स्वरूप जानने के लिये और उनसे छुटकारा पाने के लिये मन को एकाग्र करके निष्ठापूर्वक विचार करना, ऐसा ध्यान ही "अपाय विचय" नामक धर्मध्यान है। इस ध्यान में आत्मा को इस प्रकार ज्ञान पूर्वक विचारणा करनी पड़ती है कि—"हे आत्मन ! मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय योग, आदि अठारह पाप-स्थान के आचरण से ही तू ने अनन्त दुःख पाया है, अब तो इस आश्रव मार्ग का परित्याग कर संवर धर्म की परिपालना कर, जिससे कि भविष्य में दुःख नहीं उठाना पड़े।

अपाय विचय नामक धर्मध्यान में यह विचारणा एकाग्रता पूर्वक करनी पड़ती है कि—"अज्ञान, राग, द्वेष, कषाय, आस्रव, ये मेरे धर्म नहीं हैं, मैं तो अनंतज्ञान, दर्शन, चारित्र और अनंत वीर्यशील हूँ, अज हूँ, अनादि हूँ, अनन्त हूँ, अमर हूँ, अचल हूँ, अकल हूं, अमल हूँ, अगम्य हूँ, अनामी और अरूपी हूँ, अकर्मा और अबंधक हूँ, अनुदय और अनुदीरक हूं, अयोगी और अभोगी हूँ, अभेदी और अवेदी हूँ, अछेद्य और अखेद हूँ, अकषायी और अलेश्या वाला हूँ, अशरीरी एवं अनाहारी हूँ, अव्याबाध और अनवगाही हूँ, अगुरु-लघु तथा अपरिणामी हूं, अतीन्द्रिय और अप्राणी हूँ, अयोनि और असंसारी हूँ, अजर और अमर हूं, अव्यापी और अनाश्रित हूँ, अकंप हूँ, अविरुद्ध हूँ, अनिरुद्ध हूँ, अनाश्रव और अलख हूँ, अशोकी और असंगी हूँ, लोकालोक का ज्ञाता हूँ, मैं साक्षात् अरिहंत और सिद्ध स्वरूप हूँ, मैं शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हूँ, मैं महान् शक्ति रूप हूँ," इस प्रकार आत्मा के मूल गुण-स्वरूपों का चिन्तन, मनन करना ही अपाय विचय नामक धर्मध्यान है।

(३) अनुभव में आने वाले सुख-दुख रूप कर्म-फल में से कौन-कौनसा कर्म-फल किस किस कर्म से सम्बन्ध रखता है, तथा अमुक कर्म का फल अमुक प्रकार का हुआ करता है अथवा अमुक स्वरूप वाला होना चाहिये, इस ढंग का निष्ठापूर्वक और एकाग्रतामय चिन्तन-मनन आत्म-विकास की दृष्टि से करना, तथा कर्मों के उदय होने पर आत्मा के गुणों में उत्पन्न होने वाली ह्रास अथवा विकास की स्थिति का अनुसंधान करने के लिये चित्त-वृत्ति को सुस्थिर करना ही "विपाक-विचय" नामक धर्म ध्यान है।

इस ध्यान में विचार करना पड़ता है कि—"अरे जीव ! ज्ञानावरणीय आदि शुभाशुभ कर्मों की जैसी उपार्जना वैसा ही सुख-दुःख और संयोग-वियोग सहना पड़ता है। समझकर किसी पर भी राग-द्वेष मत कर, समता भाव कर, धर्म की आराधना कर, ऐसा करने पर ही तुझे बाध सुख की प्राप्ति हो सकेगी। हे जीव ! तेरे मूल आठों ही को आठों ही कर्मों ने दबाये रक्खे हैं, अतएव अपने को पहिचानने के लिये तू कर्म-सम्बन्धी प्रकृति बंध का, त बंध का, रस बंध का, प्रदेश बंध का, उदय का. उदीरणा सत्ता का और संक्रमण का सूक्ष्म विचार कर।" इस प्रकार काग्रता पूर्वक विचार-धारा का नाम ही 'विपाक-विचय" क धर्म-ध्यान है।

(४) लोक स्वरूप की रचना का विचार करना, यही ान विचय नामक धर्म ध्यान है। इस ध्यान में संपूर्ण लोक भौगोलिक अवस्था का और इसमें रहे हुए द्रव्य-विशेषों का ार करना पड़ता है। जैसे कि यह लोक चौदह रज्जु जितना ई वाला है। जिसमें तीन भाग हैं, अधोभाग, मध्यभाग, ऊर्ध्वभाग। अधोभाग सातवीं नरक के नीचे सात रज्जु ना चौड़ा है, ऊपर अनुक्रम से घटते घटते सात रज्जु की ाई पर शुरू होने वाले मध्य भाग में एक रज्जु जितना ही ा है। पुनः क्रम से बढ़ते बढ़ते साढ़ा तीन रज्जु की ऊँचाई पांचवें देवलोक में पाँच रज्जु जितना चौड़ा है। पुनः क्रम से घटते चौदह रज्जु की ऊंचाई पर सिद्ध-क्षेत्र में केवल एक ु जितना ही चौड़ा रह गया है। इस प्रकार चौदह रज्जु की ाई वाला और ३४३ घन रज्जु के क्षेत्र फल वाला यह लोक

है। "अरे जीव ! तूं ने सम्यक्त्व पूर्वक सचारित्र की आराधना नहीं की इसीलिये अनन्तानन्त बार जन्म-मरण करते हुए इस संपूर्ण लोक का अनन्त बार तूं ने स्पर्श किया है। ऐसा जानकर हे जीव ! अब तूं सम्यक्त्व-पूर्वक सूत्र धर्म की और चारित्र धर्म की आराधना कर, लोग के अग्रभाग पर स्थित मोक्ष स्थल की प्राप्ति कर, और अजरामर रूप सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर।" इस पद्धति से निष्ठापूर्वक विचार करना संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान है।

लोक में रहे हुए षड् द्रव्यों का और द्रव्यों के गुण-पर्यायों का चिन्तवन भी संस्थान विचय धर्म ध्यान के ही अन्तर्गत है।

धर्म ध्यान के ध्याता के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रंथों में भिन्नता देखी जाती है, श्वेताम्बर साहित्यकारों का कथन है कि सातवें गुणस्थान से लगाकर बारहवें गुणस्थान तक की श्रेणियों में धर्म-ध्यान की आराधना की जा सकती है, परन्तु दिगम्बर साहित्यकारों का मन्तव्य है कि चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान की संभावना हो सकती है। क्योंकि सम्यक् दृष्टि आत्मा को "उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी" के आरंभ के पूर्व तक ही धर्मध्यान की संभावना है, श्रेणी के प्रारंभ होते ही उस आत्मा का ध्यान शुक्ल ध्यान के भेद-प्रभेद के रूप में परिणित हो जाया करता है, और चूंकि श्रेणी-प्रारंभ आठवें गुणस्थान से ही हो जाया करती है, अतः आठवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में धर्मध्यान के स्थान पर शुक्ल ध्यान की संभावना ही मानी जानी चाहिये। इस प्रकार दोनों संप्रदायों के ग्रंथों में धर्मध्यान के स्वामी और अधि-

कारी के संबंध में उपरोक्त ढंग से भिन्नता पाई जाती है, सो ध्यान में रहे।

धर्मध्यानी के चार लक्षण होते हैं:—(१) आणारुई-आज्ञारुचि, (२) निसग्गरुई-निसर्गरुचि, (३) सुत्तरुई-सूत्ररुचि, और (४) उवएसरुई-उपदेश रुचि।

(१) अरिहंत भगवान् की आज्ञानुसार क्रिया करने की रुचि होना आज्ञा रुचि है।

(२) अपने आप ही याने स्वभाव से ही और विना किसी की प्रेरणा से ही सूत्रधर्म और चारित्रधर्म के अनुसार क्रिया करने की रुचि होना निसर्ग रुचि है।

(३) शास्त्र एवं सूत्र ग्रंथों के पढ़ने या सुनने की रुचि होना सूत्र रुचि है।

(४) गुरु आदि पूजनीय पुरुषों के उपदेश से धर्म-क्रिया की ओर एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-भावना के आराधन की ओर रुचि होना उपदेश रुचि है। जैसे कि:—

(अ) अज्ञान से उपार्जन किये हुए कर्मों का ज्ञानबल से क्षय करना और ज्ञान-शक्ति से नूतन कर्मों का बंधन नहीं करना।

(आ) मिथ्यात्व से उपार्जन किये हुए कर्मों का सम्यक्त्व के बल से नाश करना और सम्यक्त्व की आराधना करके नये कर्मों का बंधन नहीं होने देना।

(इ) अव्रत से उपार्जन किये हुए कर्मों का, व्रतों का आचरण करके नाश करना और व्रतों के आचरण से नये कर्मों को नहीं आने देना।

(ई) प्रमाद से उपार्जन किये हुए कर्मों को अप्रमाद द्वारा नष्ट करना और अप्रमाद द्वारा नये कर्मों का बंधन नहीं होने देना।

(उ) कषाय से उपार्जन किये हुए कर्मों को अकषाय द्वारा क्षीण करना और अकषायवृत्ति द्वारा नये कर्मों का द्वार बंद कर देना।

(ऊ) योग से उपार्जन किये हुए कर्मों को योगप्रवृत्ति का नियंत्रण कर के क्षीण करना और योगों के नियंत्रण द्वारा नये कर्मों को नहीं आने देना।

(ए) पांचों इन्द्रियों की विषय संबंधी लुब्धता रूप आश्रव से उपार्जन किये हुए कर्मों को संवर द्वारा नष्ट करना और संवर की आराधना से नये कर्मों का बंधन नहीं होने देना।

इस प्रकार वीतराग-वाणी के उपदेश से धर्म-भावनाओं की ओर रुचि जागृत होना उपदेश रुचि है।

धर्म ध्यान के चार अवलंबन कहे गये हैं:—

(१) वायणा=वाचना, (२) पुच्छणा=पृच्छना, (३) परियट्टणा=परिवर्त्तना, और (४) धम्मकहा=धर्म कथा।

(अ) गुरु आदि ज्ञानी-गीतार्थ के चरण कमलों में विनय और भक्ति पूर्वक बैठकर एवं नम्रता आदि गुणों द्वारा उनके चित्त में समाधि उत्पन्न करते हुए सूत्र, अर्थ आदि विविध ज्ञान-ग्रंथों का पठन-पाठन करना, यही "वाचना" नामक धर्म-ध्यान है।

वास्तविक अर्थों में यह आत्मा न तो दूसरों की सहायता करने में समर्थ है और न दूसरे प्राणी ही इसकी सहायता कर सकते हैं। सभी को अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सांसारिक सुख-दुःख अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है। इसलिये हे आत्मन्! यदि तुझे वास्तविक सुख प्राप्त करना ही है तो "अरिहंत, सिद्ध साधु और दया धर्म" की शरण स्वीकार, ऐसा करने पर ही तूं छह ही काया के जीवों का संरक्षक हो सकेगा एवं सभी प्रकार के दुःखों से परिमुक्त होकर वास्तविक सुख का भागी बन सकेगा। इस प्रकार की विवेक पूर्वक धर्म-ध्यान संबंधी अनुभावना ही "अशरणानुप्रेक्षा" है।

(इ) आत्म-विकास और आत्म-शांति के लिये आत्मा को इस प्रकार से ध्यानानुबंधित संबोधन करना कि—"हे मेरे ईश्वर-स्वरूप आत्मन्! तूं अकेला है, सभी पुद्गलों से भिन्न और स्वतंत्र है, न तो तूं स्वयम् किसी दूसरे का है और न कोई दूसरे ही तेरे हैं, इस परिवर्तनशील संसार-समुद्र में परिभ्रमण करते करते और जन्म-मरण के चक्कर में फंसते फंसते हाट के मेले की तरह थोड़े समय के लिये एक दूसरे का मिलना हो जाया करता है, कोई पति के रूप में, कोई पत्नि के रूप में, कोई माता-पिता के रूप में, कोई भाई-बहिन के रूप में, कोई पुत्र-पुत्री के रूप में, इत्यादि रूप से कृत्रिम-तौर पर अल्प-कालीन संयोग प्राप्त हो जाया करता है, परन्तु अति शीघ्र ही पुनः घोर, विषम, वियोग जनित दुःख उठाना पड़ता है। मृत्यु की प्राप्ति होते ही एक दूसरे को एक दूसरा सर्वथा भूल जाता है, कोई किसी को नहीं पहचानता है, इसलिये ऐसा जानकर हे अनन्त शक्ति संपन्न आत्मन्! तूं गंभीर रूप से विचार कर कि—"मैं अकेला ही

मरता हूँ, अपने किये हुए कर्मों के सुख-दुःख आदि रूप फलों का भोक्ता भी मैं अकेला ही हूँ, मेरे सुख दुःखों का कर्ता भी मैं ही हूँ, भोक्ता भी मैं ही हूँ, और हर्ता भी मैं ही हूं, मैं स्वयं अरिहन्त रूप हूँ और साक्षात् सिद्ध भगवान ही हूँ, मैं सत्‌रूप हूँ, चिद्‌रूप हूँ और आनन्दरूप हूँ, परिणामतः मैं निराबाध अनन्त शक्ति संपन्न परमात्मा रूप ही हूँ।" ऐसी गंभीर अनुसंधानात्मक धर्म-ध्यानमय भावना ही "एकत्वानुप्रेक्षा" है।

(६) संसार-तृष्णा से परिमुक्त होने के लिये सांसारिक पदार्थों के प्रति उदासीन भावना और वैराग्य भावना लाना अति आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण का साधन के लिये ऐसा चिन्तन करना कि—"निरन्तर संसरण होते रहने का नाम ही संसार है, इसके भेद प्रभेद रूप चार गति, चौबीस दंडक, और चौरासी लाख जीव योनियों में यह आत्मा अनन्त पुद्गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण करता रहा है, और इस भ्रमण-काल में इस अज्ञानी आत्मा ने अनन्तानन्त दुःखों का कटु अनुभव किया है, फिर भी न तो उन दुःखों से ही छुटकारा मिला है और न सम्यक्त्व की ही प्राप्ति हुई है। क्योंकि अभी तक हे आत्मन्! तू संसार में परिभ्रमण कराने वाले आरंभ-परिग्रहमय कामों में और तृष्णा में फंसा हुआ है, अतएव संभल जा और विचार कर कि—"इस विश्व की कैसी विचित्र परिस्थिति है कि चक्रवर्ती जैसे महापुरुष और इन्द्र महाराज जैसे देवता भी शुभ कर्मों के क्षय होते ही नरक-तिर्यंच आदि दुःखप्रद गतियों में गिर जाया करते हैं, तो फिर हे जीव! तेरी तो गणना ही क्या है? ऐसा जान कर और संसार से पार होने का शुभ प्रसंग प्राप्त कर सावधान हो जा।"

"हे सच्चिदानंदस्वरूप आत्मन् ! इस समय में तुं मनुष्य जन्म, आर्य-क्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियों के परिपूर्णता, शरीर की आरोग्यता, सद्गुरु का योग, शास्त्र श्रवण, जिन-वचनों की आराधना, और धर्म करने की शक्ति; इस प्रकार से दश अमूल्य बोलों की प्राप्ति हुई है; अतएव इनका सदुपयोग कर; धर्म-मार्ग में पराक्रम का विकास कर, ऐसा करने पर ही संसार-समुद्र से पार हो सकेगा तथा सुखी बन सकेगा।"

घोर दुःख मय इस संसार में राग, द्वेष और मोह से परिलिप्त प्राणी विषय-कषाय के कारण से और एक दूसरे को हड़प जाने की नीति से असह्य दुःखों का अनुभव निरन्तर किया करते हैं, तदनुसार सही अर्थों में यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, संपत्ति-विपत्ति आदि द्वन्द्वों का उपवन मात्र ही है, तथा घोर कष्टमय ही है" ऐसी आन्तरिक सहृदयतापूर्ण, निर्वेद गुणयुक्त, धर्म-ध्यानमय भावना ही "संसारानुप्रेक्षा" है।

(४) शुक्ल ध्यान—इसके चार चरण कहे गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं:—(१) पृथक्त्व वितर्क सविचार, (२) एकत्व वितर्क निर्विचार, (३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती, और (४) व्युपरत क्रिया-निवृत्ति अथवा समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति।

(अ) जब कोई ध्यान करने वाला गुणशील आत्मा पूर्व ज्ञान का धारक हो, ऐसी अवस्था में पूर्व ज्ञान संबंधी श्रुत ज्ञान के आधार पर अथवा पूर्व धर नहीं होने की हालत में जैसा भी श्रुत ज्ञान है, उसके आधार पर किसी भी परिमाणु आदि अचेतन

द्रव्य में से या जीव रूप चेतन द्रव्य में से किसी भी एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, व्यय, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, आदि अनेक पर्यायों का, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिकनय आदि विविध नयों के द्वारा भेद-प्रधान दृष्टि से एकाग्रता पूर्वक विचार करता है, और उपस्थित श्रुत ज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य रूप पदार्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप पदार्थ पर, अथवा एक द्रव्य रूप पदार्थ पर से पर्याय रूप अन्य पदार्थ पर, अथवा एक पर्याय रूप पदार्थ पर से अन्य पर्याय रूप पदार्थ पर, या एक पर्याय रूप पदार्थ पर से अन्य द्रव्य रूप पदार्थ पर, अनुचिन्तन के लिये प्रवृत्त होता है, तथा इसी प्रकार से अर्थ पर से, शब्द पर से अर्थ पर अनुचिन्तन के लिये प्रवृत्ति करता है, तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य किसी भी एक योग का संक्रमण रूप से आश्रय लेता है, ऐसा ध्यान ही पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक शुक्ल ध्यान कहलाता है।

(आ) जब कोई ध्यान करने वाला महात्मा ऊपर बताई हुई पद्धति के अनुसार संक्रमणात्मक एवं क्रमिक विचार-धारा का आलंबन नहीं लेता है, बल्कि अपने में उपस्थित श्रुत ज्ञान के आधार पर किसी भी एक ही पर्याय रूप अर्थ को आधार बनाकर उस पर एकत्व दृष्टि से याने अभेद प्रधान दृष्टि से चिन्तन रूप ध्यान करता है, एवं मन, वचन, काया रूप तीनों योगों में से किसी भी एक ही योग पर सुस्थिर रहकर शब्द पर से अर्थ पर अथवा अर्थ पर से शब्द पर परिवर्तन नहीं करता है और भिन्न भिन्न योगों पर भी संक्रमण नहीं करता है, ऐसा ध्यान ही एकत्व-वितर्क अविचार ध्यान है। इस प्रकार इस ध्यान में श्रुत ज्ञान की विचारधारा का मूलभूत आधार होने

पर भी अर्थ, शब्द, पर्याय, द्रव्य, और योगों पर क्रमिक पद्धति से भी ध्यान रूप शक्ति का संक्रमण नहीं हुआ करता है, वल्कि एकत्व दृष्टिकोण का ही याने अभेद प्रधान दृष्टिकोण का ही चिन्तन रूप प्राधान्य रहता है।

ऊपर वताये हुए दोनों ध्यान में से प्रथम ध्यान में तो संक्रमणात्मक भेद-प्रधान विचारधारा रहती है, जव कि द्वितीय ध्यान में एकत्वरूप अभेद प्रधान विचारधारा का अस्तित्व हुआ करता है। भेद प्रधान ध्यान की साधना कर लेने पर ही अभेद प्रधान ध्यान करने की शक्ति उत्पन्न हुआ करती है। जैसे अस्त-व्यस्त रीति से विखरते हुए एवं फैले हुए कपड़ों की सुव्यवस्थित और सुन्दर गठरी बांधने के लिये सर्व प्रथम प्रत्येक कपड़े को एक निर्धारित आकृति के रूप में समेटना पड़ता है तत्पश्चात् क्रमवार उनको एक तरह के रूप में स्थापित करना पड़ता है, इतनी क्रमिक क्रिया करने पर ही वे सव कपड़े एक व्यवस्थित और मनोरम आकृति के रूप में परिणित हो जाया करते हैं. उसी प्रकार से विश्व के अनेकानेक विषयों पर वेतरतीव से और अस्थिर रूप से भटकते हुए मन को ध्यान रूप साधना के द्वारा किसी भी एक विषयपर संयुक्त करके स्थिर किया जाता है, एवं जव ऐसी साधना द्वारा मन को स्थिर करने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो मन की चंचलता और अशांति मिट जाती है, और इसका फल यह होता है कि चारों घनघाती कर्म का याने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का जड़ मूल से तथा आत्यंतिक रूप से क्षय हो जाया करता है, एवं केवलज्ञान-केवलदर्शन रूप अरिहंत-अवस्था प्राप्त हो जाया करती है।

"पृथक्त्व वितर्क सविचार" का शब्दार्थ इस प्रकार है:—
थक्त्व याने अलग अलग रूप से, एक निश्चित पद्धति के अनु-
ार क्रमिक संक्रमणात्मक शैली से, वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान,
ौर सविचार याने सन्य रूप वाली विकल्पधारा। सारांश
ह हुआ कि—"श्रुतज्ञान का आधार लेकर एक निश्चित
द्धति के अनुसार क्रमिक संक्रमणात्मक शैली से द्रव्य अथवा
र्याय संबंधी सन्य रूप वाली विकल्पधारा ही "पृथक्त्व
ितर्क सविचार" नामक ध्यान शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण है।

इस ध्यान में तीनों योगों की सतत् प्रवृत्ति पाई जाती है,
था उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुण स्थान का स्वामी और
ीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान का स्वामी इस ध्यान का
याता हुआ करता है। "एकत्व वितर्क निर्विचार" का शब्दार्थ
स प्रकार है:—एकत्व का रहस्य यही है कि इसमें एक ही
र्याय की अथवा एक ही द्रव्य की पर्यालोचना हुआ करती है,
वकल्पों का संक्रमण और विचारों का प्रवाह इस ध्यान में नहीं
आ करता है, इसीलिये इस ध्यान की नाम-रचना में "निर्वि-
ार" शब्द जुड़ा हुआ है, परन्तु मन की शक्तियों को केन्द्रित
रने के लिये ध्यान-साधना में "श्रुत-ज्ञान" का आधार अवश्य
हता ही है, इसलिये 'वितर्क' शब्द जुड़ा हुआ है, जो कि
ुत ज्ञान का वाचक है।

(३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान—यह ध्यान सयोगी
ेवली भगवान् के हुआ करता है, जो कि तेरहवें गुणस्थान के
वामी हुआ करते हैं, वे सर्वज्ञ प्रभु जब मन, वचन, और काया
म्बन्धी स्थूल योगों का सूक्ष्म काय-योग द्वारा संरोध कर देते

हैं,और जब श्वास-उच्छ्वास जैसी सूक्ष्म और कषाय रहित क्रिया ही बाकी रह जाती हैं,एवं जिसमें से पतन होने की संभावना भी नहीं रहती है, ऐसी आदर्श अवस्था में उत्पन्न होने वाली आत्म-शक्ति की अचंचलता का और निस्पंदता का नाम ही "सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती" नामक शुक्ल ध्यान है।

योगों के निरोध करने का क्रम शास्त्रों में इस प्रकार बतलाया है कि:— सर्व प्रथम स्थूल काय योग का आश्रय लेकर वचन और मन संबन्धी स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, तत्पश्चात् वचन और मन संबंधी बनाये हुए सूक्ष्म योग का आश्रय लेकर वचन और मन संबंधी सूक्ष्म योग का भी निरोध कर लिया जाता है, और अन्त में शेष सूक्ष्म शरीर योग का भी संरोध कर लिया जाता है।

सर्वज्ञानी एवं सर्व दर्शनी प्रभु के इस ढंग की ध्यानावस्था होने के कारण से और कषायशील स्थिति होने के कारण से कर्म-बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाया करता है, और इसीलिये इन द्वारा की जाने वाली चलने-फिरने, उठने-बैठने, बोलने और खाने पीने रूप क्रिया ईर्यापथिकी क्रिया कहलाती है, जो कि कषाय रहित होने के कारण से कर्म-स्थिति का एवं कर्म-अनुभाग रूप विपाक बंध का बंधन कराने में सर्वथा असमर्थ हुआ करती है। यह ध्यान अप्रतिपाती याने अपडिवाइ होता है, उत्पन्न होकर कभी यह नष्ट नहीं होता है, तथा शरीरान्त होने पर निश्चित रूप से मोक्ष का दाता होता है।

(ङ) समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति ध्यान का तात्पर्य यह है

कि जब शारीरिक श्वास-उच्छ्वास आदि सामान्य एवं सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं और आत्म-प्रदेश भी सब प्रकार से निस्पंद और सुशान्त हो जाते हैं, और जब स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया भी नहीं होती है, एवं जो एक बार उत्पन्न होकर बाद में नष्ट नहीं होवे और जिसके प्राप्त होने पर सभी प्रकार के आस्रव तथा बंध सर्वथा रुक जाया करते हैं, जिसके प्रभाव से शेष बचे हुए नाम-कर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्म और आयुकर्म नामक अघातिकर्म भी आत्यंतिक रूप से क्षीण हो जाते हैं, एवं अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति हो जाया करती है। इस प्रकार का जो सर्वोत्कृष्ट ध्यान होता है, उसे ही "समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान" कहा जाता है।

शुक्ल ध्यान के इन तीसरे और चौथे चरण में किसी भी प्रकार से श्रुतज्ञान का आधार नहीं हुआ करता है, अतः ये दोनों अनालंबन रूप ध्यान हुआ करते हैं।

शुक्लध्यान के चार लक्षण होते हैं:—विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथित्व और असंमोह।

(अ) बाह्य और आभ्यंतर ग्रंथिरूप एवं परिग्रह रूप संयोगों से अलग रहना, एकाकी रूप आत्मभाव में ही निर्लिप्त रूप से विचार करते रहना, भयानक संकट जैसे परिषह तथा उपसर्ग आने पर भी विशुद्ध परिणामों में किंचित् मात्र भी मैलापन नहीं आने देना, अपने त्याग, संयम, व्रत, नियम, आदि रूप चारित्र में चंचलता उत्पन्न नहीं होने देना, विवेक का लक्षण है। यही विवेक धर्म है।

(आ) सर्वथा प्रकार से राग-द्वेष का क्षय करके सभी सद्गुणों का विकास करना, ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप तीनों रत्नों से संपन्न होना, यही व्युत्सर्ग का लक्षण है।

(इ) आत्मा की अनन्त शक्ति का संविकास करके मन, वचन, और काया रूप तीनों योगों को मेरुपर्वत के समान अडोल तथा सुस्थिर करना, यही अवस्थित धर्म का लक्षण है।

(ई) मोहरूप भीषण पापकर्म का सर्वथा और आत्यंतिक रूप से समूल नाश करना, सांसारिक भोगोपभोग रूप पुद्गलों से किसी भी प्रकार का परिचय और संबंध नहीं रखना, यही अमोह का लक्षण है।

शुक्लध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं:—

(१) खंति-क्षान्ति-क्षमा, (२) मुत्ति-मुक्ति-निर्लोभत्व, (३) अज्जव-आर्जव-सरलता, (४) मद्दव-मार्दव-नम्रता।

(अ) क्षमाशीलता, महान् शान्त स्वभावत्व, विकार के हेतु और कारण उपस्थित होने पर भी अपनी शान्त विचार धारा में और समता रूप प्रकृति में अंशमात्र भी विकार नहीं आने देना, यही क्षमा धर्म है।

(आ) महान निर्लोभत्व, निष्तृष्णा, निर्वांछत्व, तथा इन्द्रियों के लिये मोहक, आकर्षक और मनोरम भोग पदार्थों के प्रति वमन किये हुए आहार के समान कदापि भी लालसा उत्पन्न नहीं होने देना, यही मुक्ति याने निर्लोभत्व धर्म है।

(ह) महती निरभिमानता, निरहंकारता, ममतारहितता, और अत्यंत विनयशीलता, यही मार्दव याने नम्रता रूप विनय-धर्म है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं:—(१) अपायानुप्रेक्षा, (२) अशुभानुप्रेक्षा. (३) अनंतवर्त्ती-अनुप्रेक्षा, और (४) विपरिणामानुप्रेक्षा।

(अ) मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग इन पांचों अपायरूप आस्रव-कारणों को सर्वथा क्षीण करके क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, अप्रमादत्व, अकषायत्व और सुस्थिर योगत्वरूप पाँचों आत्मगुणों का परिपूर्ण विकास करना, यही अपायानुप्रेक्षा है।

(आ) "व्यवहार में प्रवृत्ति और निश्चय में निज आत्म-गुणों के प्रति आस्था रखना" इस सिद्धान्त को मानते हुए अशुभ संयोगों से सदा और सर्वथा दूर रहना तथा एक आत्म-तत्त्व में ही सदैव तल्लीन रहना, यही अशुभानुप्रेक्षा है।

(इ) अनन्त संसार में परावर्त्तन करने की रीति से तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सूक्ष्म एवं बादर पुद्गल परा-वर्त्तन से निवृत्त होकर एकान्त रूप से मोक्ष के प्रति ही प्रवृत्ति करना, यही अनन्तवर्त्ती अनुप्रेक्षा है।

(ई) पुद्गलों के प्रति आकर्षण रूप स्वभाव से सर्वथा निवृत्त होकर आत्मा के मूल गुणों में ही चिन्तनरूप प्रवृत्ति करते रहना और उसी में ही आनन्द रूप अनुभव करते रहना,

तथा अव्याबाध सुख में ही तल्लीन रहना, यही त्रिपरिणामानुप्रेक्षा है।

ध्यान संबंधी सामान्य समीक्षा

जैन साहित्य में शारीरिक संघटना छह प्रकार की कही गई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) वज्रर्षभनाराचसंहनन, (२) ऋषभनाराचसंहनन, (३) नाराचसंहनन, (४) अर्धनाराचसंहनन, (५) कीलिकासंहनन और (६) सेवार्तसंहनन।

इन छह में से प्रथम तीन संहनन ही उत्तम गिने जाते हैं, और जो उत्तम संहनन वाला होता है, वही ध्यान की भलीभाँति साधना कर सकता है। क्योंकि ध्यान-साधना में मानसिक-शक्ति की संतुलना और सुदृढ़ता की आवश्यकता हुआ करती है, उसी पुरुष की मानसिक-शक्ति संतुलित और सुदृढ़ रह सकती हैं, जिसका कि शारीरिक संगठन स्वस्थ एवं सुदृढ हो, अतएव उक्त प्रथम तीन संहनन वाले पुरुषों के लिये ध्यान की आराधना सुगम एवं सुदीर्घ कालीन हो सकती है।

सामान्य शारीरिक स्थिति वाला मन की विचारधारा को नियत समय तक और नियत विषय पर एकाग्रता पूर्वक स्थिर नहीं रह सकता है, बहुत जल्दी जल्दी बिना किसी नियम के इसकी विचारधारा अनेक विषयों को छूती रहती है, अतएव ऐसी विचारधारा भिन्न भिन्न दिशाओं में से बहती हुई वायु के बीच रही हुई दीपक के शिखा की तरह अस्थिर हुआ करती है,

तदनुसार अनेक विषय को छूने वाली विचार-धारा को व्यवस्थित करके एवं उसको कुछ निश्चित नियमों के आधार पर मर्यादित करके निश्चित समय तक एक विषयानुगामिनी बना देना ही ध्यान है। चूंकि ध्यान की आवश्यकता छद्मस्थ आत्मा के लिये ही आवश्यक है, अतः ध्यान की स्थिति बारहवें गुणस्थान तक ही कही गई है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मोह के आत्यंतिक क्षय हो जाने से एवं केवलज्ञान-केवल दर्शन के उत्पन्न हो जाने के कारण से चित्त की अस्थिरता सर्वथा नष्ट हो जाया करती है, एवं विचारणीय वस्तु-विषय भी अवशिष्ट नहीं रहता है, तथा योगों की चंपलता भी सर्वथा नष्ट हो जाती है, अतः इन गुण-स्थानवर्ती आत्माओं के लिये ध्यान-साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, किन्तु उनकी ज्ञान शक्ति सदैव के लिये निराबाध और अव्याबाध रीति से एक समान ही रहने के कारण से औपचारिक रूप से उनमें ध्यान-स्थिति मान ली गई है, जो कि "सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान" और "समुच्छिन्न क्रिया-निवृत्ति ध्यान" के नाम से कही जाती है। छद्मस्थ के लिये ध्यान संबंधी काल-मर्यादा अन्तर्मुहूर्त्त की ही बतलाई गई है, क्योंकि शारीरिक एवं मानसिक बल परिमित होने के कारण से अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक किसी भी एक विषय पर मन की धारा को एकाग्र बनाये रखना कठिन है।

श्वास-उच्छ्वास को रोकना ध्यान नहीं है, परन्तु किसी भी एक विषय पर अन्तःकरण की वृत्ति की स्थापना करना ही

ध्यान है। ध्यान के आराधना काल में कोई एक अखंड द्रव्य आधार रूप नहीं हुआ करता है, परन्तु किसी एक द्रव्य की कोई न कोई एक पर्याय ही आधार रूप हुआ करती है। क्यों कि द्रव्य का अस्तित्व रूप आधार उसके किसी न किसी गुण रूप पर्याय के रूप में ही हुआ करता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक गुणों के विकास में ध्यान-साधना ही एक सर्वोत्तम और सर्वोपरि प्रमुख साधन है।

(२) *नील लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप अशोक वृक्ष के समान नीले रंग वाला होता है, और भाव रूप अवस्था ईर्ष्यामय, असहिष्णुतामय एवं माया-कपट मय हो जाया करती है। निर्लज्जता के साथ साथ विषय-लालसा, रस-लोलुपता और इन्द्रिय-सुख-भावना पैदा हो जाया करती है।

(३) *कापोत लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप कबूतर के समान लाल और काला रंग लिये हुए होता है, और भावरूप अवस्था वक्रता में, नास्तिकता में, कटु-भाषण में, दूसरों को कष्ट पहुँचाने में आदि रूप प्रवृत्तियों में परिणित हो जाया करती है।

(४) *तेजो लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप तोते की चोंच के समान लाल वर्ण वाला होता है, और भाव रूप स्थिति नम्रता, सज्जनता, स्थिरता, धर्म-रुचि, और पर-हित-भावना वाली होती है।

(५) *पद्म लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप हल्दी के समान पीले रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप स्थिति कषाय की मंदता, चित्त की शांति, आत्म-संयम, विवेकपूर्ण-संभाषण और इन्द्रिय-विजयता वाली हुआ करती है।

(६) *शुक्ल लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप शंख के समान उज्ज्वल रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप धर्म ध्यान वाला और शुक्ल ध्यान वाला हुआ करता है। कषाय या तो पूर्ण क्षीण हो जाता है, अथवा पूर्ण रूपेण उपशान्त हो जाता है। इस अवस्था में वीतराग पद या तो प्राप्त ही हो जाया करता है,

अथवा इसकी प्राप्ति के लिये अनुकूल स्थिति पैदा हो जाया करती है।

चौदह गुणस्थानों में से पहले से लगाकर छट्ठे गुणस्थान तक सत्ता की दृष्टि से छह लेश्याएँ पाई जाती हैं, सातवें गुण-स्थान में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन लेश्याएँ हुआ करती हैं, आठवें गुणस्थान से लगाकर तेरहवें गुणस्थान तक केवल शुक्ल लेश्या ही होती है और चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्माएँ लेश्या से रहित हुआ करती हैं, तदनुसार मुक्त आत्माएँ भी अलेश्या वाली ही होती हैं।

(१०) भव्य मार्गणा के दो भेद हैं:—भव्य और अभव्य। तीसरा विकल्प 'नो भव्य, नो अभव्य' भी है। इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) जो आत्माएँ निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं और मोक्ष-पद को अवश्यमेव प्राप्त करेंगी, वे 'भव्य आत्माएँ' हैं। चाहे ऐसी आत्माएँ संसार-समुद्र में असंख्य जन्म-मरण करती हों, किन्तु फिर भी उनमें 'भव्यत्वगुण' अनादि रूप से और स्वाभाविक रूप से रहा हुआ होता है।

(२) जो आत्माएँ किसी भी काल में और किसी भी दशा में एवं कैसी भी उपस्थिति प्राप्त करने पर भी कदापि मोक्ष में नहीं जावेंगी; वे आत्माएँ 'अभव्य' श्रेणि में हैं। ऐसी आत्माओं का जन्म-मरण अनादि रूप और अनन्तरूप हुआ करता है। उनके लिये संसार-समुद्र अपरंपार हुआ करता है। यह 'अभव्य-त्व' नामक स्थिति ऐसी आत्माओं के लिये स्वाभाविक एवं

(२) *नील लेश्याः*—इसका द्रव्य रूप अशोक वृक्ष के समान नीले रंग वाला होता है, और भाव रूप अवस्था ईर्ष्यामय, असहिष्णुतामय एवं माया-कपट मय हो जाया करती है। निर्लज्जता के साथ साथ विषय-लालसा, रस-लोलुपता और इन्द्रिय-सुख-भावना पैदा हो जाया करती है।

(३) *कापोत लेश्याः*—इसका द्रव्य रूप कबूतर के समान लाल और काला रंग लिये हुए होता है, और भावरूप अवस्था वक्रता में, नास्तिकता में, कटु-भाषण में, दूसरों को कष्ट पहुँचाने में आदि रूप प्रवृत्तियों में परिणित हो जाया करती है।

(४) *तेजो लेश्याः*—इसका द्रव्य रूप तोते की चोंच के समान लाल वर्ण वाला होता है, और भाव रूप स्थिति नम्रता, सज्जनता, स्थिरता, धर्म-रुचि, और पर-हित-भावना वाली होती है।

(५) *पद्म लेश्याः*—इसका द्रव्य रूप हल्दी के समान पीले रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप स्थिति कषाय की मंदता, चित्त की शांति, आत्म-संयम, विवेकपूर्ण-संभाषण और इन्द्रिय-विजयता वाली हुआ करती है।

(६) *शुक्ल लेश्याः*—इसका द्रव्य रूप शंख के समान उज्ज्वल रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप धर्म ध्यान वाला और शुक्ल ध्यान वाला हुआ करता है। कषाय या तो पूर्ण क्षीण हो जाता है, अथवा पूर्ण रूपेण उपशान्त हो जाता है। इस अवस्था में वीतराग पद या तो प्राप्त ही हो जाया करता है,

अथवा इसकी प्राप्ति के लिये अनुकूल स्थिति पैदा हो जाया करती है।

चौदह गुणस्थानों में से पहले से लगाकर छट्ठे गुणस्थान तक सत्ता की दृष्टि से छह लेश्याएं पाई जाती हैं, सातवें गुणस्थान में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन लेश्याएें हुआ करती हैं, आठवें गुणस्थान से लगाकर तेरहवें गुणस्थान तक केवल शुक्ल लेश्या ही होती है और चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्माएें लेश्या से रहित हुआ करती हैं, तदनुसार मुक्त आत्माएें भी अलेश्या वाली ही होती हैं।

(१०) भव्य मार्गणा के दो भेद हैं:—भव्य और अभव्य। तीसरा विकल्प 'नो भव्य, नो अभव्य' भी है। इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) जो आत्माएँ निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं और मोक्ष-पद को अवश्यमेव प्राप्त करेंगी, वे 'भव्य आत्माएँ' हैं। चाहे ऐसी आत्माएँ संसार-समुद्र में असंख्य जन्म-मरण करती हों, किन्तु फिर भी उनमें 'भव्यत्वगुण' अनादि रूप से और स्वाभाविक रूप से रहा हुआ होता है।

(२) जो आत्माएँ किसी भी काल में और किसी भी दशा में एवं कैसी भी उच्चस्थिति प्राप्त करने पर भी कदापि मोक्ष में नहीं जावेंगी, वे आत्माएँ 'अभव्य' श्रेणि में हैं। ऐसी आत्माओं का जन्म-मरण अनादि रूप और अनन्तरूप हुआ करता है। उनके लिये संसार-समुद्र अपरंपार हुआ करता है। यह 'अभव्यत्व' नामक स्थिति ऐसी आत्माओं के लिये स्वाभाविक एवं

(२) *नील लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप अशोक वृक्ष के समान नीले रंग वाला होता है, और भाव रूप अवस्था ईर्ष्यामय, असहिष्णुतामय एवं माया-कपट मय हो जाया करती है। निर्लज्जता के साथ साथ विषय-लालसा, रस-लोलुपता और इन्द्रिय-सुख-भावना पैदा हो जाया करती है।

(३) *कापोत लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप कबूतर के समान लाल और काला रंग लिये हुए होता है, और भावरूप अवस्था वक्रता में, नास्तिकता में, कटु-भाषण में, दूसरों को कष्ट पहुँचाने में आदि रूप प्रवृत्तियों में परिणित हो जाया करती है।

(४) *तेजो लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप तोते की चोंच के समान लाल वर्ण वाला होता है, और भाव रूप स्थिति नम्रता, सज्जनता, स्थिरता, धर्म-रुचि, और पर-हित-भावना वाली होती है।

(५) *पद्म लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप हल्दी के समान पीले रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप स्थिति कषाय की मंदता, चित्त की शांति, आत्म-संयम, विवेकपूर्ण-संभाषण और इन्द्रिय-विजयता वाली हुआ करती है।

(६) *शुक्ल लेश्या:*—इसका द्रव्य रूप शंख के समान उज्ज्वल रंग वाला हुआ करता है। भाव रूप धर्म ध्यान वाला और शुक्ल ध्यान वाला हुआ करता है। कषाय या तो पूर्ण क्षीण हो जाता है, अथवा पूर्ण रूपेण उपशान्त हो जाता है। इस अवस्था में वीतराग पद या तो प्राप्त ही हो जाया करता है,

अथवा इसकी प्राप्ति के लिये अनुकूल स्थिति पैदा हो जाया करती है।

चौदह गुणस्थानों में से पहले से लगाकर छट्ठे गुणस्थान तक सत्ता की दृष्टि से छह लेश्याऐं पाई जाती हैं, सातवें गुणस्थान में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन लेश्याऐं हुआ करती हैं, आठवें गुणस्थान से लगाकर तेरहवें गुणस्थान तक केवल शुक्ल लेश्या ही होती है और चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्माऐं लेश्या से रहित हुआ करती हैं, तदनुसार मुक्त आत्माऐं भी अलेश्या वाली ही होती हैं।

(१०) भव्य मार्गणा के दो भेद हैं:—भव्य और अभव्य। तीसरा विकल्प 'नो भव्य, नो अभव्य' भी है। इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) जो आत्माएँ निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं और मोक्ष-पद को अवश्यमेव प्राप्त करेंगी, वे 'भव्य आत्माएँ' हैं। चाहे ऐसी आत्माएँ संसार-समुद्र में असंख्य जन्म-मरण करती हों, किन्तु फिर भी उनमें 'भव्यत्वगुण' अनादि रूप से और स्वाभाविक रूप से रहा हुआ होता है।

(२) जो आत्माएँ किसी भी काल में और किसी भी दशा में एवं कैसी भी उपस्थिति प्राप्त करने पर भी कदापि मोक्ष में नहीं जावेंगी, वे आत्माएँ 'अभव्य' श्रेणि में हैं। ऐसी आत्माओं का जन्म-मरण अनादि रूप और अनन्तरूप हुआ करता है। उनके लिये संसार-समुद्र अपरंपार हुआ करता है। यह 'अभव्य-त्व' नामक स्थिति ऐसी आत्माओं के लिये स्वाभाविक एवं

'आत्म-गुणरूप' हुआ करती हैं, इस 'स्वभाव-वृत्ति' के कारण से ऐसी आत्माओं के लिये कषाय का और मिथ्यात्व का कभी भी अंत नहीं हुआ करता है। इसे प्राकृतिक स्वरूप ही समझ लेना चाहिये।

(३) मुक्त आत्माएँ 'नोभव्य-नोअभव्य' नामक विकल्प के अन्तर्गत समझी जाती है क्योंकि वे कृतकार्य होती हैं। भव्यत्व और अभव्यत्व की कल्पनाएँ सांसारिक दृष्टिकोण से हैं, न कि मुक्त अवस्था के दृष्टिकोण से।

(४) इसी विषय के अन्तर्गत चौथा भेद भी अनेक आचार्यों ने बतलाया है, जो कि 'जाति-भव्य' के नाम से बोला जाता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है:—

अनेक आत्माएँ इस संसार में ऐसी भी हैं, जो कि भव्यत्व गुणवाली होती हुई भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करेंगी, इसका कारण यह है कि उन्हें मोक्ष-प्राप्ति की सामग्री रूप सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का संयोग किसी भी दशा में नहीं होगा। जैसे कि किसी पतिव्रता स्त्री का पति मर जाय और वह स्त्री विधवा हो जाय, तो क्या अब ऐसी स्थिति में उसके संतान उत्पन्न होने की संभावना रहती है? संतान उत्पन्न होने की संभावना रहती है? संतान उत्पन्न करने की शक्ति, आयु, स्वास्थ्य आदि सभी सामग्री मौजूद होने पर भी संतान की उत्पत्ति की कोई भी संभावना शेष नहीं रहती है, उसी प्रकार से उन भव्यत्व गुण वाली आत्माओं के लिये भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति का कोई संयोग प्राप्त होने वाला नहीं होता है, और

ऐसे कारणों से वे भव्य होते हुए भी 'जाति-भव्य' के नाम से पुकारे जाते हैं। इसी संबंध में 'सोने की मिट्टी' और 'मेरू-पर्वत के मूल के पत्थर' का दृष्टान्त भी दिया जाता है, जिसे स्वयमेव समझ लेना चाहिये।

(१२) संज्ञी मार्गणा के तीन विकल्प कहे गये हैं:— (१) संज्ञित्व, (२) असंज्ञित्व और (३) नो संज्ञित्व, नो असंज्ञित्व।

'संज्ञा' शब्द का तात्पर्य चेतना-शक्ति से संबंधित है।

(१) जिन आत्माओं की चेतना-शक्ति अपेक्षाकृत अधिक विकसित होती है, वे संज्ञित्व की कोटि में हैं। और इनकी संज्ञा दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है।

(२) जिन आत्माओं की चेतन-शक्ति मूर्छित की तरह चेष्टारहित और अत्यंत अल्पविकास वाली होती है, उसे ही 'असंज्ञित्व' कहा जाता है। इस 'असंज्ञित्व' धर्म का ही दूसरा नाम 'ओघसंज्ञा' है।

संज्ञित्व और असंज्ञित्व की अनेक श्रेणियाँ हुआ करती हैं, जोकि चेतना-शक्ति की न्यूनाधिक विकास-अवस्था को बतलाया करती हैं।

मुक्त-आत्माएँ परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण चेतना-शक्ति वाली होती हैं, अतएव उन्हें 'नो संज्ञी-नो असंज्ञी' कहा जाता है।

(१३) नव तत्त्वों पर, षट्-द्रव्यों पर, जिन-वचनों पर, एवं आत्मा-ईश्वर आदि आस्तिक सिद्धान्तों पर पूरा पूरा

विश्वास उत्पन्न होना ही 'सम्यक्त्व' है।

सम्यक्त्व के मुख्यरूप से छह भेद बतलाये गये हैं:—
(१) सास्वादन सम्यक्त्व, (२) मिश्र सम्यक्त्व, (३) औपशमिक सम्यक्त्व, (४) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (५) वेदक सम्यक्त्व, और (६) क्षायिक सम्यक्त्व।

(१) उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय और मिथ्यात्व की ओर आते समय जब तक मिथ्यात्व नहीं प्राप्त हो जाय, तब तक मध्यमवर्ती समय में जीव के जो परिणाम रूप भावनाएँ हुआ करती हैं, उन भावनाओं को ही सास्वादन सम्यक्त्व कहना चाहिये।

(२) खट्टे दही में शक्कर डालने से जैसे स्वाद की दशा खट्टी-मीठी रूप मिली-जुली हो जाती है, उसी प्रकार से तत्त्व की ओर एवं अतत्त्व की ओर तथा झूठ की ओर एवं सच्चाई की ओर दोनों तरफ जीव के परिणाम रूप भावनाओं की स्थिति डोलायमान रहती है, किसी भी एक ओर निश्चयात्मक नहीं रहती है, ऐसी भावनाओं की स्थिति का नाम ही मिश्र सम्यक्त्व है।

(३) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन सात प्रकृतियों के उपशम होने पर जीव के परिणामों की जो भावनाएं हुआ करती हैं, उन्हें ही 'औपशमिक सम्यक्त्व' कहा जाता है।

(४) उपरोक्त सातों प्रकृतियों में से कुछ के उपशम होने पर एवं कुछ के क्षय होने पर जीव के परिणामों की जो भावनाएँ हुआ करती हैं, उन्हें ही 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' कहा जाता है ।

(५) क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व क्षणों में जीव के परिणामों की जो भावनाएँ हुआ करती हैं, यही 'वेदक-सम्यक्त्व' है ।

(६) औपशमिक सम्यक्त्व की दशा में उपशांत होने वाली सातों मोहनीय प्रकृतियों का जड़-मूल से नाश होने पर अर्थात इनका आत्यंतिक क्षय होने पर जीव के परिणामों वाली जो उत्कृष्ट सुन्दर भावनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं, उन्हें ही 'क्षायिक-सम्यक्त्व' कहा जाता है ।

सास्वादन सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट छह आवलिकाओं की हुआ करती है । इस सम्यक्त्व में अनन्तानुबंधी कषायों का उदय रहता है, यही कारण है कि इसके समय में आत्मा की भावनाएँ निर्दोष नहीं रहा करती हैं और अव्यक्त रूप से तत्त्वों के प्रति विपरीत वृत्ति रहा करती है ।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति चौथे गुणस्थान से लगा कर ग्यारहवें गुणस्थान तक मानी जाती है ।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अस्थायी हुआ करती है, अतएव इस सम्यक्त्व का स्वामी या तो क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है, या सास्वादन सम्यक्त्व की प्राप्ति किया करता है ।

औपशमिक सम्यक्त्व के समय में आयु का बन्धन, मृत्यु का योग, अनन्तानुबंधी कपाय का बन्धन और अनन्तानुबंधी कपाय का उदय; ये चार बातें नहीं हुआ करती हैं। परन्तु इस सम्यक्त्व से गिरावट होते ही एवं सास्वादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही उपरोक्त चारों बातों का योग बन सकता है।

क्षायिक सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट सम्यक्त्व है, इसकी प्राप्ति तीर्थंकर, अरिहंत अथवा केवली महापुरुषों की उपस्थिति में ही हुआ करती है, इस सम्यक्त्व का इतना महान् प्रभाव और महात्म्य है कि इस सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाली आत्मा ने यदि अगले भव का आयु-बंधन नहीं किया हो तो वह उसी भव में मोक्ष-जाने वाली हुआ करती है, और यदि इस सम्यक्त्व की प्राप्ति के पहले ही आयु-बंधन कर लिया हो तो तीसरे भव में वह आत्मा अवश्यमेव मोक्ष-गामिनी हुआ करती है।

(१४) किसी न किसी प्रकार के आहार को ग्रहण करना, यही 'आहारकत्व' है।

आहार तीन प्रकार का कहा गया है:—(१) ओज आहार (२) लोम-आहार और (३) कवल आहार।

(१) गर्भ में उत्पन्न होने के समय माता-पिता के वीर्य-रज रूप जिस अंश को कार्मण शरीर की शक्तिद्वारा आहार रूप में ग्रहण किया जाता है, वही ओज आहार है।

(२) स्पर्शना इन्द्रिय द्वारा पुद्गल के जिस अंश को आहार रूप में ग्रहण किया जाता है, वही लोम आहार है।

(३) अन्न, पानी आदि खाद्य एवं पेय पदार्थों का मुख द्वारा आहार रूप में ग्रहण किया जाना ही कवल आहार है।

आहारक मार्गणा के तीन विकल्प किये गये हैं:— (१) आहारक, (२) अनाहारक, और (२) नो आहारक नो अनाहारक।

(१) जो जीव ओज, लोम, कवल, इन तीनों में से किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण करता है, वह आहारक है।

(२) जो जीव उपरोक्त तीनों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है।

अनाहारक आत्माएँ दो प्रकार की हैं:—एक तो विग्रहगति करते समय की जीवात्माएँ और दूसरे केवली समुद्घात करते समय की जीव- आत्माएँ! विग्रह गति में भी जो वक्रगति वाली हैं और जिन्हें विग्रह गति को पार करने में क्रम से तीन समय अथवा चार समय जितना काल लगता है, वे जीव क्रम से एक समय तक अथवा दो समय तक अनाहारक रहते हैं। ऋजुगति वाले जीवों के लिये और वक्रगति वाले जीवों के लिये प्रथम समय में और अंतिम समय में इस कारण से अनाहारक अवस्था मानी गई है कि- ये जीव विग्रहगति के प्रथम समय में तो जिस शरीर को छोड़कर गमन किया करते हैं वहाँ से आहार-योग्य पुद्गलों का आहार करके ही चला करते हैं और विग्रहगति को समाप्ति पर अंतिम समय में नया शरीर धारण करते समय कार्मण शरीर की शक्ति द्वारा तत्काल आहार कर लिया करते हैं। अतएव दो समय की विग्रहगति वाले जीव

आहारक ही होते हैं और जिन्हें विग्रहगतियों में तीन, चार अथवा किसी किसी के मतानुसार पाँच समय तक जितना काल लगा करता है, वे ही जीव आदि-अंत के समय को छोड़कर शेष बचे हुए समय में वक्रता के अनुसार-घुमाव के अनुसार-लगने वाले समयों में क्रम से एक, दो अथवा तीन समय तक अनाहारक ही रहा करते हैं। शेष संपूर्ण सांसारिक अवस्थाओं में सभी सांसारिक जीव आहारक ही हुआ करते हैं। केवलीसमुद्-घात करते समय में भी तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में वे वीतराग आत्माएँ अनाहारक ही मानी गई हैं।

मुक्त आत्माएँ तो 'नो आहारक, नो अनाहरक' होती हैं।

॥ इति शुभम् ॥

परिशिष्ट

प्रमाण-नय की शास्त्रीय-समीक्षा

ज्ञान-वाद

दीर्घतपस्वी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी ने भगवती सूत्र के दूसरे शतक के दसवें उद्देशे में "उवओग-लक्खणे जीवे" सूत्र का प्रवचन करके अखिल जगत् की दार्शनिकता को गागर में सागर के समान सम्बद्ध कर दिया है। उपरोक्त सूत्र का तात्पर्य यही है कि "ज्ञान ही जीव का मूलभूत धर्म अथवा लक्षण" है।

यह लक्षण चेतन-तत्त्व बनाम आत्मा का असाधारण धर्म है। जो जिसका असाधारण धर्म होता है वह कदापि और किसी काल में भी उससे अलग नहीं हुआ करता है। क्योंकि धर्म-धर्मी का ऐसा सम्बन्ध तादात्म्य और तद्रूप होता है। इस प्रकार आत्म-तत्त्व की सिद्धि में अनादि-अनन्त काल से यह 'ज्ञान' धर्म ही अमोघ अस्त्र सिद्ध हुआ है।

आत्मा और ज्ञान संमिश्रित रूप से एक ही वस्तु है, ऐसा नैगम-नय का मन्तव्य है, जो कि सर्वाङ्ग रूप से सत्य और परिपूर्ण है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में ज्ञान-प्रदेशों का अंश रहा हुआ है। एक भी प्रदेश आत्मा का ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञान का अंश न हो। इस तरह से प्रत्येक आत्मा एक परिपूर्ण, अखण्ड, अछेद्य, अभेद्य, अक्षय, शाश्वत, नित्य और अविभाज्य तत्त्व है। तदनुसार ज्ञान भी एक परिपूर्ण, अखण्ड, अविभाज्य, अक्षय, नित्य और शाश्वत धर्म है। किन्तु संसार में विभिन्न आत्माओं में ज्ञान-सम्बन्धी जो विभिन्नताएँ तथा अल्प-बहुत्व स्थिति पाई जाती है, उसका मौलिक कारण सभी सांसारिक आत्माओं में समान और अनन्त ज्ञान होने पर भी कर्मों के कारण से, वासनाओं और संस्कारों के कारण से ज्ञान की प्रछन्नता और अप्रछन्नता ही है। इसे ही अविकास तथा विकास अवस्था कहते हैं। जैसे सूर्य की स्थिति बादलों के योग से विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार की धूप और छाया के रूप में रहती है, किन्तु मूल में धूप और सूर्य एक ही वस्तु है, एवं संयोग-वियोग के कारणों से जैसे विभिन्नता पैदा हो जाती है, वैसे ही ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

प्रत्येक संसारी आत्मा में ज्ञान के विभिन्न दर्जे दिखाई देते हैं, तदनुसार ज्ञान की अनेक कोटियाँ प्रतीत होती हैं, परन्तु शास्त्रकारों ने स्थिति को बोधगम्य रूप देने के लिए ज्ञान के मूल पाँच भेद और इनके कुछ प्रभेदों का कथन किया है। ये भेद—प्रभेद ज्ञान की विकसित अथवा अविकसित स्थिति मात्र हैं, न कि स्वतन्त्र तत्त्व हैं। ज्ञान, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद,

उपयोग, आदि विभिन्न शब्द मूल में एकार्थक, एक भाववाची, एवं स्व-पर-निश्चायक होते हुए भी विभिन्न काल में और भिन्न-भिन्न युगों में प्रचलित विचार-धाराओं तथा साहित्यिक-परम्पराओं के बोधक, विवेचक और प्रदर्शक हैं।

ज्ञान और उपयोग शब्द विशुद्ध आध्यात्मिकता से संबंध रखने वाले हैं। नय शब्द भगवान् महावीर स्वामी के युग में प्रचलित धर्मों को समन्वय करने की दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। प्रमाण, सप्तभंगी और स्याद्वाद आदि शब्द मुख्यतः मध्य-युग में उत्पन्न तार्किक संघर्षण से सम्बन्धित हैं। इस कथन के अनुसार उपरोक्त ज्ञान श्रेणियों के भेद तथा प्रभेद वाचक शब्दों का निर्माण भी विभिन्न विचार-धाराओं के संघर्षण से और इनका समन्वय करने की दृष्टि से हुआ है।

जैन-आगम-ग्रन्थों में और जैन-साहित्य-ग्रन्थों में ज्ञान-विवेचन सम्बन्धी दो पद्धतियाँ पाई जाती हैं। एक तो आगमों से सम्बन्ध रखने वाली है, जब कि दूसरी न्याय-शास्त्र से संबंध रखती है। आगम अर्थात् शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली पद्धति के भी दो रूप मिलते हैं। एक विशुद्ध शास्त्रीय पद्धति और दूसरी न्याय-साहित्य अथवा तर्क-साहित्य से मिश्रित शास्त्रीय पद्धति। विशुद्ध शास्त्रीय पद्धति में ज्ञान के स्पष्टतः पाँच भेद किये गये हैं, जो कि मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान के नाम से सर्व विदित हैं। इनको आगमिक याने शास्त्रीय रूप देने का कारण यह है कि आत्मा की मूलभूत शुद्धि अथवा अशुद्धि के विवेचन में जो कर्म-सिद्धान्त का वर्णन किया जाता है, उसमें ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद उपरोक्त पाँचों ज्ञान-भेदों के अनुसार किये जाते हैं। जब कि तर्क-साहित्य अथवा न्याय-साहित्य में ज्ञान को

प्रमाण शब्द से सम्बोधित किया जाता है और मूल में इसके सर्व प्रथम केवल दो भेद ही किये जाते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष और परोक्ष। और इसके बाद ही इन दोनों भेदों में उपरोक्त पाँचों ज्ञानों का विभाजन कर दिया जाता है।

यह भी विचारणीय है कि कर्म-सिद्धान्त के विवेचन में प्रत्यक्षावरण और परोक्षावरण जैसे भेदों का नाम-निर्देश नहीं है। यही कारण है कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान-सम्बन्धी पाँचों भेद वाली प्रणाली विशुद्ध आगमिक याने शास्त्रीय प्रणाली है। एवं प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भेद वाली प्रणाली विशुद्ध तार्किक प्रणाली है। यदि ज्ञानावरण कर्म के भेद प्रत्यक्षावरण और परोक्षावरण के रूप में किये जाते तो यह कथन तर्कशैलीप्रधान ज्ञान-विवेचन प्रणाली कहलाता। परन्तु ऐसा नहीं होने से यह अति विशुद्ध और प्राचीन आगमिक ज्ञान-प्रणाली है, जो कि जैन-साहित्य की परम्परा में सर्वाधिक सर्वमान्य संप्रणाली है।

तर्कांश मिश्रित आगमिक-ज्ञान-पद्धति में ज्ञान रूप प्रमाण के चार विभाग किये गये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। तदनुसार शास्त्रीय ज्ञान-भेदों का समावेश प्रत्यक्ष में समझना चाहिए और शेष भेद तर्क-संघर्ष से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा समझा जाना चाहिए। श्री ठाणांग सूत्र में "प्रत्यक्ष और परोक्ष" तथा "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम" इस प्रकार दोनों भेद वाली प्रणाली का उल्लेख पाया जाता है। इसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष नामों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह परिवर्तन तर्क-संघर्ष से जनित साहित्य का परिणाम है। श्री भगवती सूत्र में केवल चार भेद वाली प्रणाली का उल्लेख पाया जाता है। श्री

अनुयोगद्वार सूत्र में चार भेद वाली प्रणाली का विवेचन किया जाकर प्रत्यक्ष भेद को दो भागों में बाँट दिया गया है। एक सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पहले भाग में मति और श्रुत का समावेश किया गया है, जब कि दूसरे में अवधि आदि तीन भेदों का समावेश कर दिया गया है।

श्री नन्दी सूत्र में भी अनुयोगद्वार के समान ही प्रत्यक्ष के दो भेद किये जाकर एक में मतिज्ञान को और दूसरे में अवधि आदि तीन को रक्खा है। किन्तु परोक्ष वर्णन में पुनः मति-श्रुत दोनों का समावेश कर दिया है, यह अनुयोगद्वार सूत्र की अपेक्षा नन्दीसूत्र की विशेषता है। इस प्रकार आगम-सूत्रों में भी तर्क-साहित्य मिश्रित ज्ञान-विवेचन-प्रणाली का उल्लेख पाया जाता है, जिसका यह स्थूल रेखा-दर्शन उपरोक्त रीति से है।

विशुद्ध तार्किक ज्ञान-विवेचन प्रणाली का एक ही रूप पाया जाता है और वह है प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद वाली प्रणाली। सम्पूर्ण जैन संस्कृत वाङ्मय में सर्व प्रथम यह प्रणाली आचार्य उमास्वाति कृत "तत्त्वार्थ-सूत्र" में पाई जाती है। समर्थ आगमिक विद्वान् जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण और सुप्रसिद्ध जैन-नैयायिक दिगम्बर आचार्य भट्ट अकलंक देव ने इस प्रणाली का विश्लेषण करके इसका पूर्ण रीत्या समर्थन किया है। तत्पश्चात् श्री जिनेश्वर-सूरि, श्री वादिदेवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र और उपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि श्वेताम्बरपक्षीय जैन आचार्यों ने और श्री माणिक्यनन्दी, तथा श्री विद्यानन्द आदि दिगम्बरपक्षीय जैन आचार्यों ने भी अपने-अपने न्याय-ग्रन्थों में इस प्रणाली को पूरी तरह से संगुफित कर दिया है, जो कि जैन तर्क-साहित्य

में सदैव के लिए सर्व-मान्य सिद्धान्त के रूप में संस्थापित हो गया है।

उपरोक्त तार्किक-ज्ञान-प्रणाली में प्रत्यक्ष के दो भाग किये गये हैं, सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांव्यवहारिक में मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान को स्थान दिया गया है। जब कि पारमार्थिक में अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान को प्रस्तावित किया गया है। इस तरह से आगमिक ज्ञान-विवेचन-प्रणाली की रक्षा करते हुए तार्किक-संघर्ष से उत्पन्न प्रमाण के भेदों का समावेश परोक्ष के अन्तर्गत कर दिया गया है। जैनेतर दार्शनिकों ने जिन "स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, उपमान, अनुमान, सम्भव, ऐतिह्य, सादृश्य" आदि आदि अनेक ज्ञान-भेदों की कल्पना की है, उन सब का समावेश भी परोक्ष के अन्तर्गत ही कर लिया गया है।

जैन-दृष्टि से परोक्ष के केवल पाँच भेद ही किये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं:—

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रमाण वर्ग को याने ज्ञान-विवेचन को जैन-न्याया-चार्यों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में सुव्यवस्थित रीति से संयोजित कर दिया है, जो कि अखिल जैन-साहित्य में निर्विवाद रूप से सर्व-मान्य हो चुका है।

आगमिक ज्ञान-भेदों के पुनः अनेक प्रभेद किये गये हैं, जैसे कि मतिज्ञान के ३४० भेद, श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद, अवधिज्ञान के छह भेद किये गये हैं, जो कि ग्रन्थान्तर से ज्ञेय हैं। केवलज्ञान तो परिपूर्ण और भेद रहित ही है। इस प्रकार

आत्म-तत्त्व का असाधारण धर्म और मौलिक गुण जो कि ज्ञान रूप है, वह आदर्श-दृष्टि से एक, अखण्ड, परिपूर्ण, अछेद्य, अभेद्य, अविभाज्य, शाश्वत, अक्षय, नित्य और सदा स्वयमेव स्वाभित होता हुआ भी साहित्यकारों द्वारा और आचार्यों द्वारा भेद रूप में वर्णित किया गया है, उसका एक मात्र कारण, आत्मा के साथ संलिप्त कर्म अथवा वासनाएँ और संस्कार ही हैं। इनके बल से ही एक और परिपूर्ण होता हुआ भी खण्डित और अपूर्ण प्रतीत होता है। इन्हीं कारणों से जन-साधारण को समझाने के लिए अखण्ड वस्तु के भी खण्ड-खण्ड किये जाते हैं और विभिन्न कल्पनाओं द्वारा इस प्रकार की विवेचना करनी पड़ती है।

नय-वाद

नय-वाद की विकास-प्रणाली प्रमाणवाद की विकास प्रणाली के समान विस्तृत नहीं है। मूल आगम ग्रन्थों में सात नयों का उल्लेख पाया जाता है और यही बात दिगम्बर साहित्य की परम्परा को भी मान्य है। जैन-न्याय-साहित्य के आदि प्रणेता आचार्य-प्रवर सिद्धसेन दिवाकर छह नय ही मानते हैं। ये आचार्य नैगम-नय को स्वतन्त्र नय की कोटि में नहीं गिनते हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टि की मर्यादा संग्रह नय और व्यवहार नय तक ही स्वीकार करते हैं। शेष चार नयों को पर्यायार्थिक दृष्टि की मर्यादा के अन्तर्गत समझते हैं। इन आचार्य से पूर्व कोई पट् नयवादी था या नहीं, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसलिए यह

कहा जाता है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही सर्वप्रथम षट् नयवाद की मान्यता के प्रवर्तक हैं।

प्राचीन परंपरा द्रव्यार्थिक दृष्टि की मर्यादा ऋजु-सूत्र नय तक स्वीकार करती है, किन्तु सिद्धसेन-काल के पश्चात् यह मर्यादा व्यवहार नय तक ही अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकार कर ली गई है। अंतिम समर्थ आगमिक विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण और प्रचण्ड नैयायिक श्री विद्यानन्द आदि आचार्यों द्वारा चर्चित नयवाद की चर्चा उपरोक्त नयवाद के कथन का समर्थन करती है।

आगम प्रसिद्ध सप्त नयवाद और सिद्धसेनीय षट् नयवाद के अतिरिक्त जैन-संस्कृत-साहित्य के सर्व प्रथम प्रवर्तक वाचक उमास्वाति की तीसरी नयवाद की भेद-प्रणाली भी देखी जाती है, ये 'नैगम से शब्द नय' तक पाँच नय स्वीकार करते हैं और अन्त में शब्द नय के तीन भेद करके आगम प्रसिद्ध शेष दो नयों का भी इस शब्द नय में समावेश कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि इन तीनों परम्पराओं में केवल विवेचन-प्रणाली की भिन्नता है, तात्त्विक दृष्टि से इनमें कोई खास उल्लेखनीय भिन्नता नहीं है।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में होने वाले, दार्शनिक जगत् के महान् विद्वान् और प्रबल वाग्मी श्री वादिदेवसूरि आगम-प्रसिद्ध नयवाद-प्रणाली का समर्थन करते हुए नैगम, संग्रह, व्यवहार, और ऋजु सूत्रनय को 'अर्थ-नय' की कोटि में रखते हैं और 'शब्द-नय, समभिरूढ़, तथा एवंभूतनय' को 'शब्द-नय' की कोटि में गिनाते हैं। किन्तु पुनः पूर्व तीनों नयों

को 'द्रव्यार्थिक' की श्रेणी में रख कर और शेष चार को 'पर्यायार्थिक' की श्रेणी में रखते हुए सिद्धसेनीय मर्यादा का समर्थन करते हैं। इस प्रकार उपरोक्त तीन प्रकार की परम्पराएँ नयवाद के सम्बन्ध में पाई जाती हैं।

जिस रीति के द्वारा वस्तु का पूर्ण रूप देखा जाता है या जाना जाता है, वह तो प्रमाण है और जिस रीति के द्वारा वस्तु के एक अंश का ही ज्ञान किया जाय और बाकी के अंशों पर उदासीनता के भाव रक्खे जाँय, वह रीति नय है।

नय रीति में वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का विचार किया जाता है, और बाकी के धर्मों पर तटस्थ भाव रखा जाता है। किन्तु यदि कोई वस्तु के एक धर्म पर विचार करता हुआ उसी वस्तु में रहे हुए बाकी के धर्मों का सर्वथा निषेध करदे तो उस समय वह सच्चा नय नहीं होकर झूठा नय कहा जायगा, जिसे कि शास्त्रीय भाषा में नयाभास कहा जाता है।

प्रमाण वस्तु के सभी धर्मों का एक रूप में ही विचार करता है। जब कि नय सभी धर्मों का अलग-अलग विचार करता है। इससे प्रमाणित होता है कि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में स्याद्वाद को ध्यान में रखते हुए कोई एक बात कहना अथवा जानना "नय" कहा जायगा। इसलिए जितने भी वचन हैं, उतने ही नय भी हो सकते हैं। तदनुसार नय के असंख्यात अथवा अनन्त भेद भी हो सकते हैं, क्योंकि वचन-प्रणाली असंख्यात अथवा अनन्त रूप है, ऐसी परिस्थिति होने पर भी शास्त्रकारों ने

नय को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा है, द्रव्य नय और पर्याय नय।

प्रत्येक द्रव्य के सामान्य धर्म को बतलाने वाला ज्ञान द्रव्य नय है और उसी द्रव्य के पर्याय धर्म को बतलाने वाला ज्ञान पर्याय नय है। जैसे "जीव में ज्ञान है" यह उदाहरण द्रव्य नय का है, क्योंकि जीव के अनेक धर्मों में से सिर्फ ज्ञान धर्म का ही यहाँ पर कथन है, शेष धर्मों पर तटस्थ भाव है। इसी प्रकार जीव में मति ज्ञान है, यह दृष्टान्त पर्याय नय का है, क्योंकि "ज्ञान-धर्म" की मति ज्ञान रूप पर्याय का यहाँ पर कथन है। शेष धर्मों पर तटस्थ भाव है। द्रव्य-नय और पर्याय नय का पूरा नाम द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय है।

उपरोक्त विवेचन से प्रमाणित है कि एक ही पदार्थ के सम्बन्ध में हजारों प्रकार के विचारों को अनेकांत दृष्टि से सत्य रूप प्रदान करने वाला विचार ही 'नय' है। विरोध को भी अविरोध बना देना "नय" का ही काम है। अनेक धर्मों की अलग-अलग कल्पनाओं को भी सत्य साबित कर देना नय की मूलभूत विशेषता है। "ईश्वर कर्त्ता है" और "ईश्वर कर्त्ता नहीं है" ऐसी विरोधी वचन प्रणाली को भी नय सत्य रूप प्रदान करता है। "ईश्वर कर्त्ता है"—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा स्वयमेव ईश्वर रूप ही है और इसलिए वह सुख-दुःख, जन्म-मरण का कर्त्ता है ही। इसी प्रकार "ईश्वर-कर्त्ता नहीं है"—इस कथन का अर्थ यह है कि मोक्ष गत आत्मा कर्म रहित होने से किसी भी प्रकार का कर्त्ता नहीं है। इस अपेक्षामय

वचन-पद्धति द्वारा विरोधी वाक्यों अथवा विरोधी सिद्धान्तों को भी विरोध रहित बना देना "नय" का ही मंगलमय आशीर्वाद है। निष्कर्ष यह है कि अपेक्षा के साथ विवेचन करने वाला वचन सत्य नय है और अपेक्षा का परित्याग करते हुए कथन किया जाने वाला वचन झूठा नय अथवा नयाभास है। सत्यवचन अथवा नय-सिद्धान्त जैन-दर्शन की अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषता है, जो कि अन्य दर्शनों में नहीं पाई जाती है।

समुद्र के एक बिन्दु जल को न तो समुद्र नाम दिया जाता है और न उसे असमुद्र ही कहा जा सकता है, बल्कि उसे समुद्र का एक अंश ही कहेंगे। इसी प्रकार नय-विचार भी न तो श्रुत-ज्ञान है और न अश्रुत-ज्ञान ही। बल्कि श्रुतज्ञान का यह एक अंशमात्र है। इस प्रकार मत-मतान्तरों की मान्यता को और अलग-अलग आदमियों की विरोधी समझ को अपेक्षावाद द्वारा समझाने के लिए ही 'नय-वाद' का वर्णन आदरणीय गणधरों ने जैन-शास्त्रों में किया है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के सात भेद श्री अनुयोग-द्वार और श्री ठाणांग सूत्र में इस प्रकार बतलाये हैं—"सत्तमूल-णाया पण्णत्ता—तंजहा—णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए। अर्थात् नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

जो विचार लोकरूढ़ि अथवा लोक संस्कार का आधार रखकर कहा जाय अथवा जिसमें द्रव्य और पर्याय का अभेद मानकर कथन किया जाय, वह नैगम नय है। जैसे—किसी ने

चावल साफ करने वाले को पूछा कि क्या कर रहे हो? तो उत्तर दिया कि भात तैयार कर रहा हूँ। यहाँ पर चावल साफ करने और भात तैयार करने में अभेद कल्पना है।

चैत सुदी १३ को महावीर जयंती मानना, इस प्रकार प्रत्येक वर्ष की चैत सुदी १३ के साथ महावीर-जन्म की कल्पना भी अभेद कल्पना है। यह सब नैगम नय की विचारणा है।

अलग-अलग अनेक प्रकार की वस्तुओं को अथवा जीव-भेदों को या भिन्न-भिन्न विषयों को एक रूप में कहने वाला वचन संग्रह नय है। जैसे द्रव्य सत् रूप है। यहाँ पर छह ही द्रव्यों का संकलन करके उन्हें 'सत्' वचन से कहा गया है। संसारी जीव दुःखी है। यह कथन भी चारों गतियों के जीवों को केवल 'संसारी-जीव' शब्द से संकलित किया जाकर बोला गया है।

व्यवहार नय का तात्पर्य यह है कि संग्रह नय द्वारा कहे हुए विचारों में अथवा प्रणाली में व्यवस्थित रीति से भेद करना। जैसे द्रव्य सत् रूप होते हुए भी वह छह प्रकार का है। संसारी जीव भी चार प्रकार के होते हैं। यह ढंग व्यवहार-नय का है।

नैगमनय का विचारक्षेत्र संग्रह और व्यवहार की अपेक्षा से अधिक विस्तृत है। क्योंकि नैगम सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को कहीं मुख्य रूप से और कहीं गौण रूप से बतलाता है। जब कि संग्रहनय केवल सामान्य रूप को ही बतलाता है। इसी तरह से संग्रहनय का विषय व्यवहार से अधिक विस्तृत दायरे वाला

है। क्योंकि व्यवहार तो संग्रह के द्वारा कहे हुए विचारों को ही व्यवस्थित रीति से विभाजित करता है। तीनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्य, विशेष अथवा उभय को जानने वाले नैगम का अनुयायी संग्रहनय है। और संग्रह का अनुयायी व्यवहार नय है। व्यवहार का आधार ही संग्रह है। इन तीनों का दृष्टिकोण मुख्यतः कम-ज्यादा रूप में समुच्चय रूप ही होता है, अतः ये तीनों द्रव्यार्थिक नय के भेद माने जाते हैं।

पर्यायार्थिक नय का मूलभूत आधार पर्याय रूप होता है, अतः यह पर्यायों की दृष्टि से असमुच्चय रूप होता है। इसके चार भेद कहे गये हैं।

जो नय भूत-भविष्य को गौण करके केवल वर्तमानकाल की पर्याय का ही विचार करता है, वह ऋजुसूत्र नय है। जैसे आत्मा मनुष्य रूप है, यहाँ पर आत्मा की अन्य गतियों को गौण करके केवल मनुष्य पर्याय को ही मुख्यता दी है। जो दृष्टिकोण एक ही पदार्थ में केवल व्याकरण के आधार से ही—काल, कारक, लिंग आदि के भेद से पदार्थ को अनेक रूप माने, वह दृष्टिकोण शब्द नय है। जैसे भारतवर्ष था, भारतवर्ष है, और भारतवर्ष रहेगा। इस कथन में इस नय की दृष्टि से भारतवर्ष तीन देश हैं, न कि एक ही देश है। जो दृष्टिकोण केवल पर्याय-वाचक शब्दों के आधार से एक ही पदार्थ को भी भिन्न-भिन्न पदार्थ के रूप में माने, वह समभिरूढ़ नय है। जैसे पयोधि, सागर और रत्नाकर, तीनों समुद्रवाची शब्द हैं और तीनों का अर्थ एक ही है, फिर भी यह नय इन्हें भिन्न-भिन्न पदार्थ के रूप में प्रगट करता है।

जो विचार पदार्थ को नामानुसार क्रिया करने पर ही उसको उस पदार्थ रूप में मानता है और क्रिया के अभाव में उसको उस संज्ञा से ही बतलाने से इन्कार कर देता है, वह एवंभूतनय है। ये चारों पर्यायार्थिक नय हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध विशुद्ध रूप में केवल पर्यायों तक ही है। एवंभूतनय से समभिरूढ़ का विषय अधिक विस्तृत है, क्योंकि एवंभूत तो नामानुसार काम करने पर ही पदार्थ को पदार्थ मानता है। जब कि समभिरूढ़ काम के अभाव में भी पदार्थ को पदार्थ तो मानता है।

समभिरूढ़ से शब्द नय अधिक विस्तृत विषय वाला है, क्योंकि समभिरूढ़ तो पर्यायवाची शब्दों के भेद से ही पदार्थ में भेद बतलाता है, जब कि शब्द नय पर्यायवाची शब्दों के आधार से पदार्थ में भेद-कल्पना नहीं करता है।

शब्द नय से ऋजुसूत्रनय अधिक विषय वाला है, क्योंकि शब्द नय तो व्याकरण के भेद से ही एक पदार्थ में भिन्न-भिन्न की कल्पना कर लेता है। किन्तु ऋजुसूत्र ऐसा नहीं करता है।

पहले से चार तक के नयों को अर्थनय भी कहते हैं, क्योंकि ये पदार्थ से ताल्लुक रखते हैं। जब कि शेष तीन को शब्दनय कहते हैं। क्योंकि ये व्याकरण सम्बन्धी भेदों के आधार से एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न पदार्थ की कल्पना कर लेते हैं।

नय विशेष दृष्टिकोण ही है, जिस दृष्टि का आधार लेकर कहा जाय, वही दृष्टि नय विशेष रूप है। यह सदैव ध्यान में रहे कि नय अपेक्षापूर्वक कहा गया वचन ही है। और इसी स्थिति

में ही यह सच्चा तथा माननीय है, अपेक्षा का परित्याग करके कहा जाने वाला मन्तव्य नय रूप नहीं होगा, बल्कि वह झूठा वचन और हठाग्रह कहा जायगा। नय सिद्धान्त जैन दर्शन की विचार-धारा का एक प्रमुख भाग है, विभिन्न दार्शनिक संघर्ष-मय विचारों को अपेक्षावाद के एक ही प्लेट-फॉर्म पर लाकर संघर्ष को समाप्त कर देना ही नयवाद का तात्पर्य है। यह दृष्टि-को विस्तृत करने वाला है और प्रेम को बढ़ाने वाला है।

स्याद्वाद की पृष्ठभूमि

प्रमाण और नय की सम्मिलित स्थिति का ही नाम स्याद्वाद है, अतएव स्याद्वाद की ऐतिहासिकता और इसकी विकास-स्थिति पर मीमांसा पूर्वक विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाणकाल से लगा कर वीर की सातवीं शताब्दी तक अथवा विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी तक का युग साहित्य की दृष्टि से आगम-प्रधान युग रहा है। क्योंकि इस युग में मूल-आगम और आगमिक विषय को स्पष्ट करने वाली निर्युक्तियाँ एवं चूर्णियाँ ही इस युग की साहित्यिक सीमाएँ रही हैं, यह युग तपस्या-प्रधान और चारित्र-प्रधान था, अतएव आगम-ज्ञान ही जनता के लिये और साधुओं के लिए पर्याप्त साहित्य-सीमाएँ थीं। इस युग तक विविध साहित्यिक ग्रन्थों की उतनी आवश्यकता नहीं मानी जाती रही, जितनी कि उत्तर काल में और मध्यकाल में आवश्यकता समझी गई।

वीर-निर्वाण के सात सौ वर्ष बाद ही विविध वर्गीय साहित्य की रचना किया जाना प्रारम्भ हुआ, इस प्रकार ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों जैन-साहित्य विविध रूपों में पल्लवित, विकसित और प्रौढ़ होता गया। साहित्य के सभी विभागों पर, गद्य और पद्य में, संस्कृत और प्राकृत में तथा प्रान्तीय भाषाओं में ग्रन्थों का निर्माण होने लगा। इस प्रकार इन सत्तरह सौ वर्षों में मूल और अनुवाद, टीका और टिप्पणी, भाष्य और व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त कर्म-सिद्धान्त, न्याय-शास्त्र, द्रव्यानुयोग और कथा-साहित्य, काव्य-व्याकरण तथा नीति-साहित्य आदि-आदि तात्त्विक एवं लोक-भोग्य सुन्दर मौलिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनसे न केवल जैन-साहित्य ही बल्कि भारतीय-साहित्य और विश्व-साहित्य भी गौरवान्वित हुआ है। यह साहित्य कलापूर्ण और अमर है।

भारतीय तर्क-साहित्य का प्रारम्भ वीर-सम्वत् की पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् ही होता है, और महर्षि गौतम द्वारा रचित "न्याय-सूत्र" नामक कृति ही भारतीय तर्क-शास्त्र का आदि ग्रन्थ माना जाता है। इसका रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी है। इसी समय से भारतीय-साहित्यिक प्रांगण में तर्क-युद्ध प्रारम्भ होता है, और आगे चलकर शनैः शनैः सभी मतानुयायी क्रमशः इसी मार्ग का अवलम्बन लेते हैं, यहाँ से भारतीय दर्शनों की विचार-प्रणाली तर्क-प्रधान बन जाती है और उत्तरोत्तर इसी का विकास होता चला जाता है।

इस काल में श्रमण-संस्कृति ने अर्थात् जैन तथा बौद्ध-धर्मों ने अपनी व्यावहारिक वास्तविकता के कारण से जनता

को ही नहीं बल्कि, राजाओं और महाराजाओं के शासन-चक्र तक को अपना अनुयायी बना लेने की शक्ति प्राप्त कर ली थी, यही कारण था कि सम्राट् अशोक, महामहिम सम्राट् चन्द्रगुप्त और महाराजा खारवेल सरीखे असाधारण प्रतिभाशाली नरेश भी इस श्रमण-संस्कृति की छत्र-छाया में आ चुके थे।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति के महान् प्रभाव को देखकर गौतम आदि वैदिक विद्वानों ने इस प्रभाव का निराकरण करने के लिए ही तर्क-शास्त्र की आधार-शिला प्रस्थापित की, और यहीं से भारतीय-साहित्य पर तर्क-प्रधान साहित्य का वर्चस्व स्थापित हो गया।

इन्हीं संयोगों में जैन-विद्वानों और बौद्ध विद्वानों को भी तर्क-प्रधान साहित्य की रचना करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। बौद्ध-तार्किकों में सर्व प्रथम और प्रधान आचार्य नागार्जुन हुए, इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी है, ये महान् प्रतिभाशाली और प्रचण्ड तार्किक थे। इन्होंने 'माध्यमिक-कारिका' नामक तर्क का प्रौढ़ और गम्भीर ग्रन्थ बनाया, तथा बौद्ध-साहित्य का मूल आधार 'शून्यवाद' निर्धारित किया। शून्यवाद के आधार पर वैदिक मान्यताओं का और उनकी तर्कों का प्रबल खण्डन किया।

इनके बाद दिङ्नागादि पश्चाद्वर्ती बौद्ध तार्किकों ने इस विषय को और भी आगे बढ़ाया और इस प्रकार इस तर्क-शास्त्रीय युद्ध की गम्भीर नींव डाल कर अपने प्रतिपक्षियों को

दर्शन सरीखा महान् दर्शन भारत से निर्वासित हो गया, और लंका, ब्रह्मा, चीन, जापान और तिब्बत आदि देशों में ही जाकर विशेष रूप से पल्लवित हुआ, जब कि जैन-दर्शन प्रबलतम साहित्यिक और तार्किक आक्रमणों के सामने भी टिका रहा, इसका कारण केवल स्याद्वाद सिद्धान्त ही है। इस प्रकार प्रत्येक जैन-सैद्धान्तिक विवेचना में स्याद्वाद ही मूल-आधार रहा है।

मध्य-युग में भारतीय-वसुन्धरा पर होने वाले राजनैतिक तूफानों में और विभिन्न दर्शनों की साहित्यिक आंधियों में भी जैन दर्शन का हिमालय के समान अडोल और अचल बने रहना केवल इस प्रमाण-नय-रूप स्याद्वाद सिद्धान्त का ही प्रताप है। विश्व की सभ्यता, संस्कृति और शान्ति के विकास के लिए जैन दर्शन और जैन तर्क-शास्त्र की 'स्याद्वाद' के रूप में एक महान् निधि रूप देन है।

उपसंहार

इस प्रकार सम्पूर्ण जैन न्याय-ग्रन्थों में षड् दर्शनों की लगभग सभी मान्यताओं का और सिद्धान्तों का प्रमाण नय रूप स्याद्वाद की कसौटी पर ही विश्लेषण किया गया है। और अन्त में इसी बात पर बल दिया गया है कि प्रमाण और नय की अपेक्षा से ही सभी सिद्धान्त सत्य हो सकते हैं, और इनकी निर-पेक्षा करने पर वे असत्य रूप हो जायेंगे।

भारतीय साहित्य-क्षेत्र में ज्यों-ज्यों दार्शनिक संघर्ष बढ़ता गया, त्यों-त्यों जैन-न्याय-ग्रन्थों में भी विषय-विवेचन में गम्भीरता

आती गई, तर्कों का जाल विस्तृत होता गया शब्दाडम्बर भी बढ़ता गया, भाषा-सौष्ठव और पद-लालित्य की भी वृद्धि होती गई। अर्थ-गांभीर्य भी विषय स्फुटता एवं विषय-प्रौढ़ता के साथ साथ विकास को प्राप्त होता गया। अनेक स्थलों पर लम्बे-लम्बे समास युक्त वाक्यों की रचना से भाषा की दुरूहता भी बढ़ती गई। कहीं-कहीं प्रासाद-गुण युक्त भाषा का निर्मल स्रोत भी कलकल-नाद से प्रवाहमय हो चला। यत्र-तत्र सुन्दर और प्रांजल भाषाबद्ध गद्य-प्रवाह में भावपूर्ण पद्यों का समावेश किया जाकर विषय की रोचकता दुगुनी हो चली। इस प्रकार प्रमाण-नय रूप न्याय-साहित्य को सर्वाङ्गीण सुन्दर और परिपूर्ण करने के लिये प्रत्येक जैन न्यायविद् ने हार्दिक और महान् परिश्रम साध्य प्रयास किया है और इस तरह से वे अपने पुनीत कृत-संकल्प में पूरी तरह से और पूरे यश के साथ सफल मनोरथ हुए हैं।

यही कारण है कि जैन न्यायाचार्यों की दिगन्तव्यापिनी सौम्य और उज्ज्वल कीर्त्ति का सुमधुर प्रकाश सम्पूर्ण विश्व के दार्शनिक क्षेत्रों में मूर्तिमान् होकर पूर्ण प्रतिभा के साथ पूरी तरह से प्रकाशित हो रहा है। इन आदरणीय साहित्यकारों की सार्व-देशिक प्रतिभा से समुत्पन्न, और गुण-गरिमा से ओत-प्रोत उज्ज्वल कृतियों को देख कर अत्यन्त नम्रता के साथ किन्तु निःसंकोच पूर्वक मैं कह सकता हूँ कि इनकी असाधारण और अमूल्य तथा अमर कृतियों ने जैन-साहित्य की ही नहीं, बल्कि

पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
२	करती है	करती हैं
७	है	हैं
१२	चेतन शक्ति	चेतना शक्ति
५	(२)	(३)
२३	विग्रह गति को	विग्रह गति की
११	अनाहरक	अनाहारक

उपरोक्त शुद्धि-पत्र में पंक्ति संख्या की गणना में पुस्तक की पृष्ठ संख्या से पंक्ति का प्रारंभ समझना चाहिए।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
१३६	२०	हो	हों
१३६	१	सप्त भगीवाद	सप्त भंगीवाद
१३६	१३	है	हैं
१४०	३	तीनों के साथ	तीनों का एक साथ
१४१	२२	मौजूद से होती	मौजूद होती
१४२	१५	क्चाहिये	चाहिये
१४३	३	हैं	है
१४३	११	(४)	(५)
१४४	३	पुद्गल को	पुद्गल के
१४४	६	हों	हो
१४४	१०	है	हैं
१४५	१५	गंघ	गंध
१४७	५	(१४)	(१३)
१४७	१६	इन्द्रियों	इन्द्रियां
१५१	५	पदार्थों का	पदार्थों को
१५१	६	पदार्थों का	पदार्थों को
१५१	७	पर्यायों का	पर्यायों को
१५१	८	(६)	(१०)
१५१	१३	हृदय से एवं मन से	हृदय में एवं मन में
१५१	१६	परिणामों से	परिणामों में
१५३	११	(१०)	(११)

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
१५४	२	करती है	करती हैं
१५४	७	है	हैं
१५५	१२	चेतन शक्ति	चेतना शक्ति
१५६	५	(२)	(३)
१५६	२३	विग्रह गति को	विग्रह गति की
१६०	११	अनाहरक	अनाहारक

नोट:—उपरोक्त शुद्धि-पत्र में पंक्ति संख्या की गणना में पुस्तक की पृष्ठ संख्या से पंक्ति का प्रारंभ समझना चाहिए।